मैं और मेरी मोटर, हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्रकार तथा हास्य व्यंग्य लेखक श्री राजेन्द्रलाल हाँडा की मीठी चुटकियों और चुटीले व्यंग्य से परिपूर्ण कृति है। पुस्तक की भूमिका में कृति और कृतिकार के सम्बन्ध में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है—'लेखक महोदय अपने ऊपर हँस सकते है। अपनी कमजोरियों का मजाक ये उड़ा सकते हैं और कठोर वास्तविकताओं में से भी कुछ न कुछ रस निकालने की असाधारण क्षमता उनमें विद्यमान है। संकुचित परिस्थितियों से ऊपर उठने का गुर उनके हाथ लग गया है, और यही उनकी सफलता का रहस्य है। इस पुस्तक को पढ़ते समय हमें लेखक की सूक्ष्म बुद्धि पर हर्षदायक आश्चर्य हुआ। भाषा साफ सुथरी और बामुहावरेदार है। उसमें कृत्रिमता का नामोनिशान नहीं और उसको समझने के लिए किसी को शब्द सागर खरीदने की जरूरत नहीं है।'

श्री हाँडा की हास्य-व्यंग्यपूर्ण उत्कृष्ट कहानियों तथा ललित-निबन्धों का यह संग्रह, हिन्दी साहित्य के लिए एक अनुपम देन है।

मैं और मेरी मोटर

[हास्य-व्यंग्यपूर्ण उत्कृष्ट कहानियाँ तथा ललित निबन्ध]

राजेन्द्रलाल हाँडा

१९५८

किताब महल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

दो शब्द

इस पुस्तक के सुयोग्य लेखक, बन्धुवर राजेन्द्रलाल जी हाँडा से मेरा प्रथम परिचय आज से आठ-दस वर्ष पूर्व उनके तत्कालीन आफिस, पत्र सूचना विभाग, नई दिल्ली में हुआ था। प्रचारक होने के नाते उनके प्रचार कार्य को महत्व देना मेरे लिये स्वाभाविक था और इसलिये जब मैंने उन्हें उस संकीर्ण से कमरे में बैठे देखा तो उस विभाग के संचालकों की अक्ल पर मुझे कुछ तरस ही आया। तब तक मुझे यह पता नहीं था कि एक ही स्थान पर समस्त शक्तियों के केन्द्रीकरण का यह अवश्यंभावी दुष्परिणाम होना ही चाहिये कि मनुष्य दीमकों की तरह अन्धकारमय छोटे-छोटे बिलों में रहें और अपने शरीर तथा मस्तिष्क को भी संकुचित पावें।

आफ़िशियल जीवन के दमघोंटू वायुमंडल में रह कर भी कोई आदमी अपने मानसिक संतुलन तथा हार्दिक उल्लास को किस प्रकार क़ायम रख सकता है, यह मेरे लिये सदैव आश्चर्य का विषय रहा है, पर हाँडा जी की इस पुस्तक को पढ़ने के बाद मेरे मन की गुत्थी कुछ सुलझ-सी गई है।

लेखक महोदय अपने ऊपर हँस सकते हैं, अपनी कमज़ोरियों का मज़ाक उड़ा सकते हैं और कठोर वास्तविकताओं में से भी कुछ न कुछ रस निकालने की असाधारण क्षमता उनमें विद्यमान है। संकुचित परिस्थितियों से ऊपर उठने का गुर उनके हाथ लग गया है, और यही उनकी सफलता का रहस्य है।

इस पुस्तक को पढ़ते समय हमें लेखक की सूक्ष्म बुद्धि या पैनी सूझ-बूझ पर हर्षदायक आश्चर्य हुआ। भाषा साफ़-सुथरी और बामुहावरे है। उसमें कृत्रिमता का नामोनिशान नहीं और उसको समझने के लिये किसी को शब्द-सागर ख़रीदने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

पुस्तक का एक तिहाई भाग यद्यपि एक पुरानी मोटरकार तथा तज्जनित अनुभवों से सम्बन्ध रखता है तथापि वह नीरस नहीं बन पाया, क्योंकि लेखक महोदय जगह-जगह पर हास्यरस का मनोरंजक पुट देने में कुशल हैं।

ईर्ष्या बहुत बुरा चीज़ है, यह हम जानते हैं। फिर भी निस्संकोच यह बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी कि मोटर मालिकों के प्रति हमारे हृदयों में थोड़ी-सी ईर्ष्या अवश्य होती है और दिल्ली जैसी विस्तृत नगरी में हमारे उस निन्दनीय दुर्गुण में कुछ वृद्धि ही हुई है। हमारे एक मित्र ने, जो प्राचीन संस्कृति के प्रबल पुजारी हैं और जिन पर प्रगतिशील होने का कोई इलज़ाम नहीं लगा सकता, एक दिन कहा : "हम साम्यवादी नहीं, पर जब हम पैदल घसिटते हुए जाते हैं, और पास से कोई मोटर सर्र से निकल जाती है तो कुछ समय के लिये तो हम कम्युनिस्ट विचार-धारा के समर्थक बन जाते हैं।"

पर हम अपने मित्र से भी एक क़दम आगे बढ़ कर कहते हैं : "दिल्ली में बस का इन्तज़ार करते-करते हमें आध घंटा हो जाता है और फिर भी जब भरी हुई बस पास से निकल जाती है तो अनीश्वरवादी होते हुए भी हम हठात् ईश्वर से प्रार्थना करने लगते हैं कि हे परमात्मन्, एक मोटर हमें भी मिल जाय।"

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद अपनी इस प्रार्थना में हम इतना और जोड़ देंगे कि हाँडा जी का पुराना ड्राइवर चेतसिंह भी हमें मिल जाय।

मोटर-प्रसंग के अतिरिक्त अन्य लेख भी मनोरंजक हैं। लेखक महोदय नई दिल्ली के विशेषज्ञ हैं और इस नगरी पर वे दो पुस्तकें "दिल्ली में दस वर्ष" और "राजधानी के अंचल से" लिख चुके हैं। इसलिये दिल्ली पर वे जो कुछ लिखते हैं, सुपाठ्य बन पड़ता है। पर अप्सरा में तो उन्होंने अपनी रसिकता का भी खासा अच्छा परिचय दिया है। मन को गुदगुदा देने वाली उस कहानी को पढ़ कर हमें ख्याल आया कि प्रेम के हरे भरे उपवनों को छोड़ कर लेखक महोदय प्रचार

के किस रेगिस्तान में जा फँसे हैं।

"नीलम", "दो मुसाफिर" तथा "किसी और से न कहना" लेखक की मँजी हुई लेखनी से निकले बढ़िया रेखाचित्र हैं जिनसे उनके गम्भीर मनोवैज्ञानिक अध्ययन का पता चलता है। यात्रा में उनके आँख और कान दोनों खुले रहते हैं और उनके साथ सफ़र करना खतरे से खाली नहीं। क्या ही अच्छा हो यदि वे सरकारी अफ़सरों के भी दस-बीस जीते-जागते रेखाचित्र खींच दें। पर साधारणतः हम लोगों में और विशेषतः हमारे शासकों में हास्यरस की प्रवृत्ति इतनी कम है कि ये रेखाचित्र हाँडा जी को बहुत महँगे पड़ सकते हैं।

'मोटर और मुहाविरे' शीर्षक लेख में कई अच्छे मुहाविरे पढ़ने को मिले पर पुरानी मोटरकार के विषय में लेखक की यह उक्ति कि "वह इतना पेट्रोल पीती थी कि मित्रों ने उसे चौबे की उपाधि दे डाली".... हमें अपने तथा अपनी जाति के लिये अगौरवजनक प्रतीत हुई। राशनिङ्ग के कारण हमारी चौबे जाति को जो मर्मान्तक पीड़ा कई वर्षों से भुगतनी पड़ी है उससे लेखक के हृदय में कोई करुणा की भावना जाग्रत नहीं हुई और उन्होंने हम लोगों की उपमा पुरानी मोटरकार से दे डाली।

हिन्दी साहित्य में ऐसे निबन्धों की बहुत कमी है, जो सरल भाषा में लिखे गये हों, जिनको पढ़ते समय पाठकों को दिमागी कसरत न करनी पड़े और जिनसे सात्विक मनोरंजन के साथ-साथ परोक्षरूप से कुछ उपदेश भी मिले। अँग्रेजी में ऐसे निबन्धों तथा निबन्धकारों को उचित सम्मान मिलता है, पर हिन्दी जगत् में उस विश्लेषणात्मक आलोचना-शक्ति का प्रायः अभाव ही है जो ऐसे निबन्धों की कुछ कद्र कर सके। साधारण से साधारण विषयों को किस प्रकार मनोरंजक बनाया जा सकता है और आडम्बरहीन शैली कितनी प्रभावशाली हो सकती है, हाँडा जी की पुस्तक इस बात का जीता जागता प्रमाण है।

साहित्य और नाट्यकला इन दोनों में हास्यरस का महत्व आज बहुत अधिक बढ़ गया है। जो कलाकार कठोर से कठोर आलोचना

को अथवा करुण से करुण स्थिति को हास्य रस के वातावरण में प्रस्तुत कर सकता है, वह निस्सन्देह बहुत बड़ा कलाकार है। उदाहरण के लिये जार्ज बर्नार्ड शा के सामाजिक व्यवस्थाओं पर कड़े से कड़े वे व्यंग्य पेश किये जा सकते हैं, जिन्हें पढ़ कर अनायास हँसी आ जाती है। हास्यरस में करुणा के पुट का उदाहरण प्रेमचन्द की 'कफ़न' शीर्षक कहानी है, जिसे पढ़ते हुए एक ओर तो पाठक के ओठों पर मुस्कराहट छाने लगती है और दूसरी ओर उसकी आँखों के कोर आप से आप भीगने लगते हैं।"

हाँडा जी ने अपनी "दिल्ली में दस वर्ष" शीर्षक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"हास्य को मैं सर्वश्रेष्ठ रस मानता हूँ और हास्य लेखन को बड़ी कला। जीवन की विषमताओं और कटुताओं को हास्य सदा सह्य ही नहीं बल्कि मनोरंजनीय बना सकता है। किसी भी भुगती हुई घटना पर सच्चे हृदय से हँस देना एक कला है। इस कला पर जिसका अधिकार हो गया, उसमें निजी कल्याण ही नहीं वरन् मानव समाज के कल्याण की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।"

हाँडा जी स्वयं हास्यरस के एक अत्यन्त सफल लेखक हैं। वह पाठक को सिर्फ़ अपने साथ बहा कर ही नहीं ले जा सकते, वह सभी परिस्थितियों में उसे हँसा सकते हैं। इस पर भी उनका हास्य सिर्फ़ पाठक को गुदगुदा देने का काम नहीं करता, वह उसे सोचने तथा अनुभव करने को भी लाचार कर देता है। और यही श्रेष्ठ हास्यरस की पहचान है। प्रस्तुत पुस्तक के सभी रेखाचित्र और स्टूडी बेकर सम्बन्धी सौदेबाजी इस श्रेष्ठ हास्यरस के बहुत उत्तम उदाहरण हैं। आशा है, हिन्दी को अभी श्री राजेन्द्रलाल हाँडा से और भी बहुत कुछ प्राप्त होगा।

११३ नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

अनुक्रम

ताँबे के भाव चाँदी की खरीद

स्वयं कार खरीदने से पहले मैं कई बार सुन चुका था कि सैकिण्ड-हैंड कार मोल लेना सदा घाटे का सौदा रहता है। जिस किसी मित्र ने भी पुरानी कार खरीदने की भूल की, उसे अन्त में पछताना पड़ा। और तो और, कैलाश जैसे मितव्ययी और शिल्पकुशल आदमी का भी यही मत रहा है। इसलिए जब मेरा कार खरीदने का इरादा हुआ, मैं किसी प्रकार की दुविधा में नहीं था और इस प्रश्न पर मेरे विचार बिल्कुल स्पष्ट थे। दो महीने तक लगभग एक घण्टा हर रोज इसी समस्या को दिया गया। पर इतने सोच-विचार के बाद भी जो गाड़ी मैंने खरीदी, वह थी १९३७ की 'स्टूडीबेकर', ६३,००० मील चली हुई और १२ साल पुरानी!

सुनी-अनसुनी कर और बहुत-से मित्रों के अनुभव से लाभ न उठा, यह सौदा मैंने क्योंकर किया, इसका भी एक रहस्य है। एक व्यवहारपटु मित्र से कॉफी हाउस में अचानक भेंट इस रहस्य का आधार है। कुछ मित्रों के साथ एक दिन कॉफी पी जा रही थी कि अकस्मात सरदार दीवानसिंहजी के दर्शन हो गए। वह भी हमारे साथ बैठ गए। हम लोग पहले से ही विभिन्न कारों की बातचीत कर रहे थे। दीवानसिंहजी तुरन्त भाँप गए कि मेरी इच्छा 'मौरिस' खरीदने की है। पलभर में उन्होंने सबको खामोश कर दिया और वह अपने-आप ही बोलने लगे—

"देखो, ऐसी मूर्खता न करना कि झूठी चमक-दमक के फेर में आकर ८,०००) डुबा बैठो। यह ठीक है कि दिल्ली में कार के बिना काम नहीं चल सकता, पर इतना ही खर्चो जितना आवश्यक हो। आजकल नई कार लेना ठीक नहीं। किसी को कुत्ते ने काटा है जो चार हजार की चीज के आठ हजार देगा! और फिर लड़ाई के बाद जितनी भी कारें आई हैं सभी हलकी और निकम्मी हैं। अगर तुम्हें दो-तीन हजार तक अच्छी काम आनेवाली गाड़ी मिल जाय तो क्या बुरा है?"

मैंने कृतज्ञतापूर्वक सरदारजी की तरफ देखा, मानो पहली बार पता लगा हो कि आठ तीन से बहुत अधिक होते हैं। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इस काम में मेरी सहायता करें। इस मँहगाई के जमाने में कौन अधिक खर्चना चाहेगा। परन्तु मैंने कहा—"ऐसी कार दिखलवाइएगा जो आपसे चलती रहे और हर रोज मुझे ही धकेलनी न पड़े।"

"वाह, हेमन्त, आप भी क्या बात कर रहे हैं। अरे भाई, मैं तो दो साल से यही काम करता हूँ। वकालत को तो शेखूपुरा छोड़ते ही तिलांजलि देनी पड़ी। मैं आपको जो कार दिलवाऊँगा वह नई से यदि अच्छी नहीं तो उसके मुकाबले की अवश्य होगी। नया नौ दिन पुराना सौ दिन, यह कहावत तो आप सबने सुनी होगी। आजकल जितनी कारें आ रही हैं, उन पर तो यह ठीक चरितार्थ होती है। कहाँ लड़ाई से पहले की कारें जो शोधे हुए इस्पात से बनाई जाती थीं, और कहाँ आजकल की गाड़ियाँ जो स्यालकोटी ट्रंकों जैसी नाजुक हैं। इस्पात तो सारा लड़ाई के दिनों में गोला-बारूद बनाने में लग गया, खाली टीन और लोहे की खुरचन ही से अब सब कुछ बनाना पड़ता है।"

सरदारजी बात अकल की कह रहे थे। शायद इसी कारण इस

विषय पर उग्र मत रखते हुए भी कैलाश चुप रहे। उन्होंने सरदारजी की तरफ देखा मानो उनके विचारों से सहमति प्रकट कर रहे हों, और कहा—"पुरानी गाड़ी जरूरी नहीं कि खराब हो, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि सैकिण्डहैंड मशीनरी कभी भी धोखा दे सकती है। एक-दो बार मैं भी पुरानी गाड़ियाँ खरीदने की गलती कर चुका हूँ। सदा नुकसान ही उठाया है। इसलिए मैं समझता हूँ कि अगर पुरानी ही गाड़ी लेनी है तो बहुत ठोक-बजाकर लेनी पड़ेगी।"

"यह आपने कौन-सी नई बात कही, कैलाशजी। पुरानी गाड़ी को तो दुनिया पुरानी ही कहेगी। फिर भी बहुत-सी पुरानी गाड़ियाँ ऐसी दमदार होती हैं कि नई उनके आगे कुछ नहीं। रही धोखा खाने की बात, यहाँ उसका सवाल ही नहीं उठेगा। मैं जो बीच में हूँ। धोखा आदमी तभी खाता है जब अनजान व्यक्ति पर विश्वास करना पड़े। अब तो मैं बीच में हूँ। हेमन्तजी को कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। पहले मैं अपनी पूरी तसल्ली करूँगा, तभी इन्हें गाड़ी खरीदने की राय दूँगा।"

अब कोई भी कुछ और न कह सका। सरदारजी की दलीलों को काटना सम्भव नहीं था। एक-दूसरे से हाथ मिला हम लोग कॉफी हाउस से विदा हो गये।

चार दिन बाद ही दीवानसिंहजी ने मुझ से मिलना शुरू किया। और यह मिलने और कारें दिखाने का क्रम तभी समाप्त हुआ, जब मैंने एक पुरानी स्टूडीबेकर खरीद ली। उस अवसर पर दीवानसिंहजी ने जो भाषण दिया वह मेरे लिए चिरस्मरणीय रहेगा। मेरा यह ख्याल है (और कैलाश मुझ से सहमत हैं) कि यदि प्यारेलाल एण्ड सन्स के

सामने दिए जाने के बजाय वह भाषण किसी विधान सभा में दिया गया होता तो श्रोताओं ने तालियों से उसका स्वागत किया होता। जब सौदा खतम हो गया तो सरदारजी ने अकारण ही इस प्रकार बोलना शुरू किया—

"हेमन्तजी आप धन्य हैं। आज २,७००) में आपने एक ऐसी चीज खरीदी है जो साल-दो-साल के प्रयोग के बाद भी आप किसी के हाथ ३,०००) से अधिक में बेच सकेंगे। यही है असली मितव्ययता। अगर आज आप दस हजार की नई कार लें तो ६ महीने में उसके सात हजार रह जायँगे। बाकी तीन हजार घपले में पड़े समझो। इसके प्रतिकूल यह मजबूत स्टूडीबेकर पाँच-सात सौ का नफा देकर ही जाएगी। आप यह न सोचिए कि यह कार बड़ी है और पैट्रोल अधिक माँगेगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस २६ हार्सपावर कार की अपेक्षा छोटी कार एक गैलन में अधिक मील चलेगी, लेकिन जो आदमी कार खरीदने जा रहा है वह इन छोटी-छोटी बातों पर क्यों ध्यान देगा। छोटी कार की चूलें चौथे दिन हिल जाती हैं और वह मोबिल आइल इस तरह खाती है जैसे मलेरिया से उठा रोगी मूँग की दाल सड़पता है। बड़ी कार इन सब झंझटों से ऊपर है। मैं सच कहता हूँ कि आप ताँबे के भाव चाँदी खरीद रहे हैं।"

सरदारजी के भाषण से मैं इतना प्रभावित हुआ कि २,७००) अदा करने पर भी मुझे ऐसा जान पड़ा मानो किसी की कार मुफ्त उड़ा लाया हूँ। तुरन्त मित्रों को बटोरा गया और कार खरीदने की खुशी में तपाक से चाय पी गई। कई दिन तक मुझे दीवानसिंहजी द्वारा दी गई दलीलों से काम लेना पड़ा, क्योंकि हर समझदार आदमी मुझसे पूछता

कि मैंने इतनी बड़ी कार किस लिए खरीदी है। लोगों की आशंकाओं का उत्तर देने में प्रायः मैं सफल रहा। केवल एक दिन क्रोध आया जब बड़ी कार के गुण और विशेषताएँ सुनने पर भी एक मित्र ने कह डाला—"अच्छा भाई आनन्द करो। हमने तो तुम्हारे भले की कही थी। हमें क्या, चाहो तो 'पुलमैन' खरीद लो!"

पहला अनुभव

चलती-फिरती कार जितना भी सुख किसी को दे सकती है उतना सुख दो महीने तक मेरी गाड़ी ने मुझे दिया। गाड़ी इतनी बड़ी थी और इतनी अच्छी चलती थी कि प्रायः मुझे यह भद्दा लगता कि उसमें मैं अकेला बैठा हवा से बातें करूँ, जब कि सड़क के दोनों ओर दर्जनों नर-नारी पैदल जा रहे हों। दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर की अपील का मुझे खयाल आता कि मोटरवालों को पैदल राहियों का ध्यान रखना चाहिए। दिल्ली के सभी सिनेमा-घरों में यह अपील प्रति दिन पट पर प्रदर्शित की जाती है। मुझे जब भी सड़क पर चलता कोई परिचित व्यक्ति मिलता, गाड़ी रुकवाकर तुरन्त मैं उससे साथ आ बैठने का आग्रह करता। अपने ड्राइवर को भी मैंने आदेश दिया कि जब गाड़ी में स्थान हो और उसे कोई परिचित व्यक्ति सड़क पर मिल जाय तो उसे अपने साथ बिठा लिया करे। अक्सर ऐसा हुआ कि गाड़ी में बिठा लेने के बाद मुझे पता चला कि मेरी कृपा का भाजन मेरे गन्तव्य स्थान से ठीक प्रतिकूल दिशा में जाना चाहता है!

कभी-कभी इस उदारता के कारण मैंने अपने-आपको घोर धर्म-संकट में पाया। एक दिन तो मेरे साथ बहुत अनहोनी हुई। घर से चलने में कुछ देर हो गई। जैसे ही रोहतक रोड पर पहुँचा, प्रभुदयाल-जी को कहीं जाते देखा। मैंने सोचा इन्हें भी दफ्तर के लिए देर हो गई होगी, कार में जरा जल्दी पहुँच जायँगे। उनके पास पहुँचते ह्

ड्राइवर ने गाड़ी रोकी। मैंने चिल्लाकर कहा—"पंडितजी, किधर जाइएगा ?" शायद उन्हें मेरी बात सुनाई नहीं दी। एकदम दरवाजा खोल कर वह अन्दर आ गए। गाड़ी चल पड़ी। मैंने प्रभुदयालजी से पूछा—"आज दफ्तर के लिए देर कैसे हो गई ?" पंडितजी बोले—"लड़के की तबीयत खराब है, इसलिए चार दिन से छुट्टी पर हूँ। मैं तो सदर बाजार वाले डाक्टर जानकीदास के पास जा रहा था।"

जब यह बात मेरे कान में पड़ी, गाड़ी पंचकुंई रोड पर पहुँच चुकी थी। मन-ही-मन में बहुत कोफ्त हुई। क्या करता, विवश था! ड्राइवर से कहा कि पहाड़गंज होता हुआ पहले प्रभुदयालजी को सदर बाजार छोड़ दे। ऐसा ही किया गया। सदर बाजार से मैं सीधा दफ्तर पहुँचा। ऐसी घटनाएँ (कभी-कभी पैट्रोल के अचानक खतम हो जाने से ये दुर्घटनाएँ भी सिद्ध हुईं) बहुत दिनों तक नहीं घट सकीं। आदमी को जल्दी ही अक्ल आ जाती है। सो मुझे भी आ गई। अब मैंने सूझ-बूझ से काम लेना शुरू किया और यह नियम बनाया कि जब तक कोई हाथ देकर या आवाज लगाकर रुकने को नहीं कहेगा, कार को न रोका जाय।

निजी दोषों को दूर करने में मुझे अधिक देर नहीं लगी। मैं अपने-आपको ठीक कर ही पाया था कि कार के दोष प्रकट होने लगे। दफ्तर से आते-जाते कभी-कभी वह अपने-आप रुक जाती। जब भीतरी उपचार से उसमें कोई सुधार न होता तो गम्भीर मुद्रा में ड्राइवर बाहर निकलता, बौनेट ऊपर उठा मडगार्ड पर उकड़ूँ बैठ वह कभी इंजिन में फूकें मारता और कभी ढिबरियों को कसता। इसके बाद जब कार चल पड़ती तो वह धीमे स्वर से पैट्रोल में गन्ने से बने स्पिरिट के मिलान

की बुराई करता। वह कहता —"साहब कार में कोई खराबी नहीं, इसका इंजिन बहुत बढ़िया है। आजकल पैट्रोल बहुत निकम्मा मिल रहा है। वह धूप के कारण अधिक गरम हो जाता है। इसलिए चलती-चलती गाड़ी रुक जाती है।"

एक दिन मैं सपरिवार बाहर घूमने गया हुआ था। वहीं रात के नौ बज गए। बारिश होकर हटी थी। आधा मील ही चले होंगे, गाड़ी फिर रुक गई। पन्द्रह मिनट तक ड्राइवर ने टक्कर मारी पर चली नहीं। मैंने उससे पूछा—"अब तो धूप नहीं है, न ही गरमी है। अब यह कैसे रुक गई?" उसे मेरे सवाल का कोई जवाब नहीं सूझा। पूरा आध घंटा सड़क पर रुके रहने के बाद किसी तरह गाड़ी चली और हम घर पहुँच पाए।

अगले दिन पूछताँछ करने पर पता चला कि गाड़ी का पैट्रोल-पाइप खराब है और उसमें बहुत किचरा जम गया है। गराज में ले जाकर किचरा साफ कराया गया। पाइप से निकाले गए गन्द को देख-कर मुझे बहुत सन्तोष हुआ, जैसे कान का मैल निकलवाने वाले को मैल देखकर होता है। चार गैलन पैट्रोल डाल हम लोग चल दिए। मुझे एक मित्र को लिवाने स्टेशन जाना था। इरविन अस्पताल के सामने ही आए थे कि गाड़ी फिर रुक गई। ड्राइवर बाहर निकला तो उसने देखा कि हमारा कार पैट्रोल का छिड़काव करती आ रही है। गम्भीरता के आवरण में शरारत भरी हँसी को छुपाने का प्रयास करता हुआ वह बोला—"ये गराजवाले भी कैसे पाजी हैं! उन्होंने पाइप को माँजकर इतना साफ कर दिया कि उसमें छेद हो गए हैं।" मैं क्रोध के मारे तिल-मिला उठा और बोला—"मैं यह कुछ नहीं समझता। मुझे यह बताओ

कि तुम १५ मिनट में स्टेशन पहुँच सकते हो या नहीं। नहीं तो मैं ताँगा लेकर जाता हूँ।"

ड्राइवर तुरन्त भागा हुआ गया और पाँच मिनट में ही सनलाइट साबुन की टिकिया लेकर लौटा। जहाँ-जहाँ उसको छेद दिखाई दिए, उसने साबुन लगा दिया। इसके बाद अन्दर धरे टिन से एक गैलन पैट्रोल गाड़ी में डाला; तुरन्त गाड़ी चल पड़ी और हम समय पर स्टेशन पहुँच गए। गाड़ी से उतरकर स्टेशन के भीतर प्रवेश करते समय मेरी उलझन कुछ और ही रूप धारण कर चुकी थी। मेरा क्रोध अभी दूर नहीं हुआ था, पर न जाने क्यों मुझे अपनी कार पर अभी भी गर्व था।

अगले दिन ही पैट्रोल पाइप की मरम्मत करा दी गई। कुछ दिन बाद मेरे कुछ मित्र अम्बाले से आए। उनमें से एक साहब की तबियत खराब हो गई। उन्हें उसी दिन वापस लौटना आवश्यक था, इसलिए मित्रों ने इच्छा प्रकट की कि वे सब मेरी कार से अम्बाला जायँगे। मैंने स्वीकृति दे दी और शाम के पाँच बजे उन लोगों ने प्रस्थान किया। उन सबने सोचा तीन घंटे का रास्ता है, आठ बजे घर जा पहुँचेंगे। जब अगले रोज शाम तक मेरा ड्राइवर नहीं लौटा तो मुझे कुछ चिन्ता हुई। मैंने अम्बाले अपने मित्र को फोन किया। पता लगा कि वे उसी दिन शाम को चार बजे अम्बाले पहुँच पाए....अर्थात् पूरे २३ घंटे में!

प्रति दिन की छोटी-मोटी मरम्मतों से तंग आ मैंने कार को नई दिल्ली के एक गराज में भेज दिया और गराज के फोरमैन से निवेदन किया कि वह गाड़ी को अच्छी तरह देखकर मरम्मत के खर्च का अनुमान मुझे बता दे। दो दिन बाद जो अनुमान मुझे मिला उसे पढ़ कर मेरी आत्मा काँप उठी। यह था गाड़ी पर रोगन सहित १,३३२) और

बिना रोगन के ८३२) । शाम को चुपचाप मेरा ड्राइवर गाड़ी को गराज से घर ले गया। किसी-न-किसी तरह हँसते-झींकते हम उसका प्रयोग फिर करने लगे।

मुझे उन दिनों जो कष्ट हुए उनमें से एक तो सदा याद रहेगा। एक दिन राष्ट्रपति ने स्थानीय साहित्यिकों को राष्ट्रपति भवन में आमंत्रित किया। पड़ोस में रहने वाले चार-पाँच साहित्यिक मेरे यहाँ समय से कुछ पहले आ पहुँचे। उन सबकी इच्छा यही थी कि मेरी कार में बैठ कर इकट्ठे राष्ट्रपति भवन में चला जाय। साढ़े पाँच के करीब हम लोग घर से चले। पंचकुइँ रोड पर बहुत भीड़ होती है। सिपाही का संकेत देख भंगी बस्ती के सामने ड्राइवर ने कार को रोका। दो मिनट में ही मेरी कार के पीछे १२, १५ कारें और इकट्ठी हो गईं। जब सिपाही ने हमें चलने का संकेत किया तो भरसक प्रयत्न करने पर भी गाड़ी नहीं चलती थी। उधर हमारे पीछे खड़े कारवाले सड़क पार करने को उतावले हो रहे थे। मगर वे तो तब निकलते जब हमारी कार रास्ता देती। सिपाही ने क्रोध में आकर खूब सीटियाँ बजाईं। मेरे साथ बैठे एक साहित्यिक उसकी तरफ देख कर बोले—"हमने तो सीटी सुन ली, यह गाड़ी सुने तभी आगे सरक सकते हैं।" जैसे ही मेरा ड्राइवर नीचे उतरा, पीछे पंक्ति में खड़ी कारों से कई लोग उतर कर हमारे पास आ गए। इंजिन का निरीक्षण व्यर्थ समझ मैंने सबसे प्रार्थना की कि गाड़ी को धक्का देकर एक तरफ लगाया जाए ताकि सड़क तो न रुकी रहे। मित्रों की सहायता से यही किया गया। साहित्यिक लोग एक-एक करके बस या ताँगे से राष्ट्रपति भवन चले गए, परन्तु मैं आठ बजे तक वहीं अपनी कार के कल-पुर्जों को देखता रहा।

ड्राइविंग सीखने की धुन

स्टूडीबेकर जैसी विशालकाय गाड़ी के साथ ड्राइवर रखना आवश्यक था और फिर, मैं ड्राइविंग जानता भी नहीं था, इसलिए एक चतुर और हँसमुख ड्राइवर प्राप्त कर मैंने अपने-आपको धन्य समझा था।

यह विचारधारा बहुत दिन तक नहीं चल पाई। एक महीने के बाद ही मुझे अपनी राय बदलनी पड़ी। सभी मित्र और पड़ौसी लोग जान गए कि मेरे पास कार भी है और ड्राइवर भी। यह उन्हें पता था ही कि मुझे इन्कार करने की आदत नहीं। कुछ दिनों बाद ही शादियों में कार माँगी जाने लगी। ब्याह-शादी में किसी की सहायता करना हम लोगों का सामाजिक कर्तव्य है। इस काम में मैंने कोई बुराई नहीं देखी। बुराई थी तो इस बात में कि शादियों ने रुकने का नाम नहीं लिया। कभी-कभी तो पास-पड़ोस में मैंने इतनी शादियाँ देखीं कि सारा करौल बाग ही बारातघर दिखाई देता। मुझे कोई जाने न जाने, पड़ौसी लोग कार माँगने में संकोच नहीं करते थे। कम-से-कम मेरे ड्राइवर को तो सभी जानते थे। हर शादी में उसे कुछ प्राप्ति होती और मिठाई खाने को मिलती। इसलिए वह सदा यही उपदेश देता कि शादी के अवसर पर सब को सबके काम आना चाहिए।

एक और दुर्भाग्य देखिए कि मेरे घर के आसपास तीन बड़े-बड़े अस्पताल हैं। कोई मित्र इनमें आता या यहाँ से जाता, मुझे अवश्य याद करता। स्टूडीबेकर के रहते रोगी मित्र को मैं ताँगे में कैसे बैठने देता?

यह प्रथा सी बन गई कि मुझे दफ्तर में छोड़ ड्राइवर सार्वजनिक सेवा के लिए निकल जाता और शाम को पाँच बजे फिर आ पहुँचता।

सोच-विचार के बाद मैंने निश्चय किया कि यह काम ठीक नहीं, इसे रोकना चाहिए। एक-दो बार यह कह कर कि ड्राइवर बीमार है, इन्कार करने की हिम्मत की, परन्तु ड्राइवर की बीमारी से मुझे अधिक सहायता नहीं मिली। उससे कहीं अधिक कारगर कार की बीमारी हुई। फिर भी मुझे यह खयाल आया कि यदि मैं आप ड्राइविंग सीख लूँ तो यह समस्या हल हो सकती है। फिर अधिकतर कार को मैं ही चलाया करूँगा, ड्राइवर को घर के और कामकाज में लगाए रखूँगा। यह सोच कर मैंने नौसिखिया लाइसैंस (लर्नर्स लाइसैंस) प्राप्त कर लिया और अगले दिन सुबह छः बजे ड्राइवर को साथ ले रोहतक रोड की तरफ निकल गया। सड़क पर पहुँचते ही ड्राइवर की जगह मैं बैठ गया और चेतसिंह को अपने साथ बैठा लिया। इस सम्बन्ध में मोटे-मोटे सिद्धांतों की जानकारी मैं पहले ही प्राप्त कर चुका था। जब मैंने स्टीयरिंग व्हील पर हाथ रखे, तब चेतसिंह ने सूत्र रूप में मुझे शिक्षा दी—"गाड़ी की रफ्तार का गीयर से सम्बन्ध है और दाएँ-बाएँ मोड़ने का इस चक्र से।"

पूर्ण विश्वास के साथ ब्रेक आदि कलों पर मुस्तैदी से पाँव रख और चालक-चक्र को जोर से हाथों में थाम मैंने गाड़ी को धीरे-धीरे आगे बढ़ाया।

जो आनंद उस समय आया वह वर्णनातीत है। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। सारी सड़क खाली थी। एक-आध बाइसिकिल वाला ही आता-जाता दिखाई देता था। मुझे कुछ भी नहीं करना पड़ा और गाड़ी चलती गई। यह चेतसिंह भी बड़ा मूर्ख है, मैंने दिल में सोचा। कार

चलाने से बढ़ कर आनन्ददायक काम कोई और हो ही नहीं सकता। जब एक कल-मात्र के दबाने से और चाबी घुमाने से आपकी देख-रेख में गाड़ी आगे बढ़ती है तो ऐसा अनुभव होता है मानो सारी सृष्टि आपके संकेत पर नाच रही है। तब समझ में आता है कि मानव को प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ क्यों माना गया है। आत्मविश्वास, अहंभाव, आत्मोल्लास—ये सब हवा के पहले झोंके में ही साँस के साथ अन्दर आ भरते हैं। मुझे विश्वास हो गया कि व्यक्तित्व के विकास के लिए ड्राइविंग सीखना अत्यन्त आवश्यक है। मैं सोचता गया कि वह दिन दूर नहीं जब सैनिक ट्रेनिंग की तरह मोटर-चालन भी हमारे विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य विषय बना दिया जायगा। तब नौजवानों के शरीर और मस्तिष्क का विकास ठीक से हो सकेगा।

इन विचारों में डूबा हुआ मैं धीरे-धीरे कार चला रहा था। दिल्ली को हम लोग चार मील पीछे छोड़ आए थे। सामने से तीन घोसी बाइसिकिलों पर दूध के कनस्तर लादे हुए आ रहे थे। एक आदमी इतना दूध उठाए हुए था और टायरों में इतनी थोड़ी हवा थी कि उसकी साइकिल से चीं-चीं का मधुर स्वर निकल रहा था। मेरा ध्यान उधर चला गया। उस घोसी को देखने के लिए मैंने बाईं तरफ देखा। गर्दन जो उधर को मोड़ी, आप-ही-आप हाथों के ज़ोर से पहिया भी बाएँ को मुड़ गया और गाड़ी बाएँ को घूम गई। अगर चेतसिंह ने चालक-चक्र को न थामा होता तो हम एक मोटे-से नीम के पेड़ से टकरा गए होते।

मैं एकदम घबरा गया और पसीना-पसीना हो गया। बाहर निकल मैंने रूमाल से मुँह पोंछा और चेतसिंह को अपनी जगह बैठा दिया। फिर मैं आराम से बैठ गया और चेतसिंह गाड़ी को घर ले आया। घर

पहुँच कर मेरी दृष्टि बौनेट से लटके हुए मोटे 'एल' अक्षर पर पड़ी। यह मेरे नौसिखिया लाइसैंस का प्रतीक था। आन की आन में मैं सारी दुर्घटना भूल गया और खोया हुआ साहस वापस आ गया। फिर जेब में पड़े लाइसैंस पर दृष्टि डाली। इस प्रकार अपनी पूरी तसल्ली कर घर में आराम से बैठ कर मैं चाय पीने लगा।

आठ-दस दिन इसी तरह अभ्यास किया गया। कोई विशेष दुर्घटना नहीं हुई। गाड़ी को पीछे करते हुए एक-दो बार बिजली के खम्भों मे टक्कर जरूर हुई, पर किसी का कुछ नहीं बिगड़ा। कार चलती रही और खम्भे टूटे नहीं। खयाल हुआ कि नौसिखिया लाइसैंस वापस कर अब पक्का लाइसैंस लेना चाहिए। सो पुलिस को खबर की गई और इसी संबंध में परीक्षा के लिए एक दिन निश्चय हो गया। चेतसिंह को साथ ले उस दिन समय से कुछ पहले मैं राजपुर रोड पहुँच गया।

दस बजे पुलिस इन्स्पेक्टर साहब आए। उनसे एक-दो बार टेलीफोन पर बात हो चुकी थी। बड़े प्रेम से मिले। सौजन्यवश उन्होंने कहा —"परीक्षा की क्या आवश्यकता है? अभी आपका लाइसैंस बनवाए देता हूँ। ड्राइविंग का आपको अभ्यास हो ही गया।" मैंने कहा—"जी हाँ, अब गाड़ी को कंट्रोल कर लेता हूँ। दस दिन से चला रहा हूँ, कोई विशेष दुर्घटना नहीं हुई। फिर भी आप जाब्ते की कार्रवाई करें। इस मैदान में पाँच-सात मिनट गाड़ी चलाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

इन्स्पेक्टर अन्दर चले गए और उन्होंने एक हवलदार को यह देखने के लिए भेज दिया कि मैं गाड़ी कैसी चलाता हूँ। उसी अहाते में बीस फ़ुट के फासले पर दाईं तरफ एक सड़क थी। मुझसे कहा गया कि गाड़ी को पीछे करके दूसरी सड़क पर ले आऊँ। चेतसिंह नीचे उतर

गया और मैंने गाड़ी स्टार्ट की। आगे चलाने का अभ्यास तो मुझे काफी था, पीछे मुड़ने में कुछ कच्चाई थी। मौके की बात, मैं यह भूल गया कि आगे का दायाँ पीछे का भी दायाँ होता है। मुझे गाड़ी को पीछे से बाईं ओर ले जाना था और चालक-चक्र को बाईं ओर ही घुमाना चाहिए था। अगाड़ी-पिछाड़ी के घपले में मैं चक्र को दाईं ओर घुमा बैठा। गाड़ी एकदम से दाईं ओर चली गई। उधर पीछे किस्मत का मारा एक खोमचेवाला बैठा था। उसके 'चटपटे करारे छोले' धाँय से नीचे आए, पर सौभाग्य से वह बच गया। हवलदार ने आगे बढ़कर एकदम ब्रेक लगाए। मैं सोचता रह गया कि यह क्या हुआ। लाइसैंस की बात छोड़ मैं छोलेवाले से बातचीत करने लगा। वह बहुत दुखी था और बात करते ही रोने-झल्लाने लगा। मेरे बार-बार पूछने पर उसने बताया कि उसके थाल में सात रुपए का माल था। उसे चुपचाप सात रुपए दे देने में ही मैंने कुशल समझी। फिर हवलदार से कहा कि अभी कुछ कच्चाई है, लाइसैंस के लिए अगले महीने मैं फिर आऊँगा। यह कहते ही मैं पीछे की सीट पर बैठ गया और चेतसिंह को संकेत किया कि एकदम चल पड़े।

राजपुर रोड से सीधा दफ्तर पहुँचा। दिन भर कँपकपी-सी लगी रही। जब कभी कुछ लिखने के लिए कलम उठाता एक क्षण के लिए भ्रम में पड़ जाता कि कौन-सा दायाँ हाथ है और कौन-सा बायाँ। मुझे इस बात की बिलकुल चिन्ता नहीं थी कि शायद अब लाइसैंस मुझे कभी न मिले, न ही इस बात की कि जब तक कार है ड्राइवर रखना पड़ेगा। वास्तव में घबराहट यह सोचकर हो रही थी कि चेतसिंह मुझे क्या समझता होगा। मेरे दिल की बात सच्ची निकली, क्योंकि उस दिन से

चेतसिंह बहुत अकड़ कर रहने लगा। नमस्ते कहने के बजाय अब वह पल्टनी सलामी देने लगा।

मैंने अभी भी हार नहीं मानी। एक-दो बार हिम्मत करके कार को मैं दफ्तर से घर ले आया। कहीं खिसर तक नहीं लगी। यह सब होते हुए भी दोबारा लाइसैंस माँगने की हिम्मत नहीं हुई।

एक दिन चेतसिंह बीमार पड़ गया। छुट्टी का दिन था और धुआँ-धार बारिश हो रही थी। तीन बजे जैसे ही वर्षा बन्द हुई, बच्चों ने बाहर जाने का आग्रह किया। कोई बहाना बनाना भी मुश्किल था क्योंकि कम-से-कम मेरी लड़की तुरन्त समझ जाती कि पिताजी कार चलाते कत-राते हैं। इसलिए मैंने सबको तैयार होने को कह दिया।

थोड़ी देर बाद ही हम सब इण्डिया गेट के लिए रवाना हो गए। पंचकुईं रोड से जा रहे थे। सड़क पर विशेष भीड़ न थी। कनाट सर्कस में सिपाही का हाथ देख मैंने बीच सड़क में कार रोक दी। सिपाही ने चलने का संकेत किया और चिल्लाकर कहा—"बाएँ से।" एकदम न जाने मुझे क्या हो गया। अपने बाएँ से जाने के बजाय मैं सिपाही के बाएँ हाथ हो लिया। उसने सीटी बजाकर मुझे रोक लिया और चालान करने के लिए अपनी नोटबुक निकाली। गाड़ी से बाहर निकल कर मैंने कहा—"अजी, ऐसी भी क्या बात है। मैं तो सीधा आ रहा था। आप ही ने बाएँ-बाएँ का शोर मचाया, सो मैं आपके बाएँ आ गया।" सिपाही हँसना चाहता था पर हँसा नहीं। बोला—"जनाब, आप क्या बात कर रहे हैं। मेरे कहते-कहते आप दाएँ पर आ गए। अगर ट्रैफिक ज्यादा होती तो टक्कर लग गई होती।"

मैंने सोचा इस गुत्थी को हँसी-मजाक के सहारे ही सुलझाया जाय। दोस्ताना लहजे में संतरी से कहा—"सरकार, हम कौन होते हैं, और हमारे दाएँ-बाएँ को कौन पूछता है? हम तो आप ही के बाएँ को असली बायाँ मानते हैं।"

सिपाही भलामानस था। हँसकर चुप हो रहा। मैंने शुक्र मनाया कि उसने मुझसे लाइसैंस नहीं माँगा, नहीं तो सारी पोल खुल गई होती। उस दिन मैंने कसम खाई कि अब कार कभी नहीं चलाऊँगा। और चाहे कितनी ही कसमें तोड़ी हों, पर इस कसम पर मैं आज तक कायम हूँ।

मोटरों के मरघट में

मैं उन सुस्त आदमियों में से हूँ जो कभी कोई चीज़ आप नहीं खरीदते। ईश्वर जानता है कि मेरे तन पर जितने भी कपड़े हैं वे किसी और के खरीदे हुए हैं। कपड़े ही नहीं, चप्पल भी श्रीमतीजी की खरीद है। वे अक्सर नाराज होती हैं कि मैं औरों के लिए तो कभी कुछ क्या करूँगा, अपने लिए तक कोई चीज आप नहीं खरीद सकता। वास्तव में मुझे बाजार से बहुत घृणा है और जब कभी हिम्मत करके मैं उधर जा निकला हूँ; हमेशा मँहगे दामों रद्दी माल उठा लाया हूँ।

परन्तु स्टूडीबेकर ने मेरे सब बल निकाल दिए। नए और पुराने पुर्जों की कीमत में फर्क इतना है कि कोई लखपती ही उसकी अवहेलना कर सकता है। एक दिन चलते-चलते जो कार रुकी; ड्राइवर ने घोषणा कर दी कि 'बाल बेयरिंग' खराब हो गए हैं। इस पुर्जे के सम्बन्ध में मुझे इतना ही पता था जितना एक साधारण पढ़े-लिखे को नक्षत्रों के बारे में होता है। मेरी समझ में कुछ नहीं आया; फिर भी मैंने हौसले से जवाब दिया—"कोई बात नहीं; नए डलवा लेना।"

अगले दिन एक गराज वाले से पता लगा कि नए बाल बेयरिंग ९०) के आएँगे; पुराने शायद ४०) तक मिल जाएँ। मैं यह पुर्जा दो-ढाई का समझे बैठा था! पुर्जे के दाम सुनकर मेरी: आँखें पथरा गईं। परन्तु अब क्या हो सकता था! सोचा कि पुर्जा तो लेना ही पड़ेगा; बस इन पचास रुपयों की बचत की तरफ ध्यान दिया जाए। पुरानी चीज

खरीदने के लिए जिसकी कीमत का कोई हिसाब ही नहीं, अकेले ड्राइ-बर को कैसे भेजा जा सकता था ? इसलिए फैसला किया कि मैं और ड्राइवर दोनों मोतियाखान चलेंगे।

मोतियाखान का नाम बहुत सुना था; पर दर्शन कभी नहीं किए थे। ड्राइवर का साथ ले मैं उसी दिन वहाँ जा पहुँचा। वहाँ का दृश्य भी देखने की चीज है। मोतियाखान में पुराने पुर्जों की पचासों दूकानें हैं। हरएक दूकान में पुराने कल-पुर्जों के ढेर लगे हुए हैं। एक छोटी-सी दूकान के आगे हम ठहरे और पुराने बाल बेयरिंग माँगे। आध घंटे बाद दूकानदार ने घोड़े के खुर की नाल जैसा एक पुर्जा मेरे हवाले किया। हजार पूछने पर भी उसने दाम नहीं बताए। वह यही कहता रहा कि पहले आप देख लें, इससे काम भी चलता है या नहीं। ड्राइवर के मुँह से 'हाँ' शब्द निकलने की देर थी कि दूकानदार ने ६५) दाम सुना दिए। पुर्जा वहीं रख हम दूसरी दूकान की तरफ बढ़े। इन सभी में कमाल की एकता देखी। बात करने का ढंग एक जैसा था। एक भले आदमी ने पुराने बाल बेयरिंग की कीमत ३०) बताई। मैंने बात नहीं की; तीस रुपये उसके हाथ में पकड़ा पुर्जा उठा लिया। जब हम वहाँ से चल पड़े तो ड्राइवर कहने लगा—"साहब; आपने जल्दी की; १०) ज्यादा दे दिए। जब उसने तीस माँगे थे आपको पन्द्रह कहने चाहिये थे।"

मैंने ड्राइवर की बात पर ध्यान नहीं दिया। मैं मोतियाखान देखने में व्यस्त था। इस अनोखे बाज़ार को देखकर मेरी ठीक वही प्रतिक्रिया थी जो ईसाइयों या मुसलमानों के कब्रिस्तान को देखकर होती है। यहाँ सौ पचास मोटरों के ढाँचे खड़े थे। उनके अस्थिपंजर निकाले जा चुके

थे। इन्हीं का व्यापार मोतियाखान में होता है। इन ढाँचों को देखकर कुछ देर तक हम अवाक् चलते रहे। मुझे भय सा लगने लगा। मैंने सोचा, चाहे कोई लाख प्रयत्न करे; अपनी गाड़ी को कितना ही झाड़-पोंछ कर रखे; एक-न-एक दिन सब कारों को यहीं आना है। यहीं सबकी खाल खींची जायगी। घिसे हुए, टूटे-फूटे पुर्जे फेंक दिए जायँगे और काम में आने वाले पुर्जों की बिक्री होगी। सहसा मुझे मोतियाखान के सभी दूकानदार यम के दूत दिखाई देने लगे। मैंने सोचा—वे सदा यही राह देखते रहते होंगे कि कब कोई कार चूँ-चराँ करती है और अस्पताल से उठाकर इस श्मशान में लाई जाती है।

मैं इस विचारधारा में ऐसा उलझा कि किसी और बात का ध्यान ही नहीं रहा। विचारों का क्रम तभी टूटा जब सामने अपनी गाड़ी दिखाई दी और ड्राइवर ने बाल बेअरिंग माँगा। पुर्जा ड्राइवर को दे और उसे यह कह कि फिट करने के बाद गाड़ी घर लेता जाए, मैं फिर मोतियाखान की तरफ मुड़ गया। भयावह होते हुए भी यहाँ का वातावरण एकदम नीरस नहीं था। जैसे ही मैंने कार की तरफ पीठ की और पुराने पुर्जों के ढेरों की तरफ दृष्टि डाली; वे ह' विचार फिर लौट आए। मुझे ऐसा लगने लगा कि मानो मैं मरघट या मसानों में घूम रहा हूँ। कभी पुरानी कारों का हुलिया देख उदास होता और यह खयाल आता कि अन्त की दृष्टि से जड़-चेतन में कोई भेद-भाव नहीं। देर-सवेर दोनों का अन्त एक ही समान होता है। कभी कारों के खोखले ढाँचों को देख हिम्मत बँधती। मैं सोचता ऐसी घबराने की क्या बात है; इन सब गाड़ियों से तो अपनी स्टूडीबेकर अच्छी ही है। तङ्ग भले ही करती हो, पर चलती तो है। फिर इच्छा हुई

कि किसी ऐसे आदमी से मिला जाय जिसकी गाड़ी मोतियाखान में आ चुकी हो। उस आदमी से निश्चय ही काफी ज्ञान मिल सकेगा और तसल्ली भी होगी।

मैं यह सोच ही रहा था कि सामने से एक गाड़ी आती हुई दिखाई दी। नौ-दस आदमी उसे ढकेलकर मोतियाखान ला रहे थे। किसी भी टायर में हवा नहीं थी, इसलिए ढकेलने में बहुत जोर लग रहा था। पीछे पीछे धूप की ऐनक लगाये पतलून की जेबों में हाथ डाले एक आदमी आ रहा था। मैंने सोचा इस स्वर्गीय कार का मालिक यही होगा। बहुत संकोच के साथ मैंने उससे पूछ ही लिया। उसने कहा—"गाड़ी मेरे भाई की है; वे इससे बहुत तंग आ गए थे; इसलिए कबाड़ियों के हाथ बेचना पड़ा।" बातों-बातों में पता लगा कि उनके भाई साहब का नाम फकीरचन्द है जो हेवलक स्क्वेयर में रहते हैं। यह सुनते ही मैं उछला; क्योंकि फकीरचन्दजी से मेरा परिचय था।

इन सज्जन से छुट्टी ले मैं घर की ओर पैदल चल दिया। मोतियाखान से मेरा घर मुश्किल से आधा मील है। मैंने इरादा किया कि घूमते-फिरते शाम को फकीरचन्दजी से जरूर मिलूँगा और सिवा कार के उन्हें किसी और विषय पर बोलने नहीं दूँगा। मुझे विश्वास था कि उनकी बातों से मेरी बहुत तसल्ली होगी और धीरज बँधेगा।

घर पहुँचकर मुँह-हाथ धोने लगा तो खयाल आया कि नहा लिया जाय यद्यपि एक बार सुबह नहा चुका था। मरघट-मोतियाखान संवाद अब भी मस्तिष्क में घुसा था। जैसे श्मशान से लौटकर नहाना आवश्यक है उसी प्रकार मोतियाखान से लौटकर बिना स्नान किए कुछ करना उचित नहीं लगा। चुनांचे नहाया गया। फिर आनन्द से भोजन कर मैं

चुपचाप सो गया। दो घंटे गहरी नींद के बाद जब उठा तो पता लगा कि चेतसिंह गाड़ी ले आया है और पुर्जा बिल्कुल फिट आया है।

शाम को हम सब लोग गाड़ी में बैठ बिड़ला मंदिर गए। मोतिया-खान से लौटते ही मैंने सारी बात अपनी पत्नी से कही थी। इसलिए उन्होंने याद दिलाया—"अगर फकीरचन्दजी से मिलना हो तो हैवलक स्क्वेयर दूर नहीं है।" परन्तु अब दिमाग की हालत ही बदल चुकी थी। परेशानियाँ धुल चुकी थीं और आशा का सूर्य आकाश में उदित हो चुका था। ऐसी हालत में बीबी-बच्चों को छोड़ कौन किसी के घर जाए और किसी की टूटीफूटी कार की चर्चा करे। सौ बातों की बात यह है कि किसी रोगी का हाल पूछने में तभी मजा आता है जब आदमी स्वयं पीड़ित हो। मानव-स्वभाव ही ऐसा है; इसमें कोई क्या करे? इसलिए मैंने सोचा फकीरचन्दजी से तभी मिलूँगा जब मेरी गाड़ी फिर गराज जाएगी।

गाहकों की खोज

दसियों बार भीड़ के बीच सहसा रुककर मेरी गाड़ी हज़ारों व्यक्तियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर चुकी थी। बहुत से रेढ़ीवाले और दूकानदार अब इसे पहचानने लग गए थे। एक बार जब कनाटप्लेस में कार रुकी हुई थी और ड्राइवर इंजिन के अन्दर सिर डाले ढिबरियों से हाथापाई कर रहा था, मैंने कुछ लोगों को कहते सुना—"लो भई आ गई वही स्टूडीबेकर! सड़कों पर इसकी वजह से अच्छी रौनक रहती है।"

संकट का सामना तो कार लेने के कुछ दिनों बाद से ही शुरू हो गया था, मुझे सबसे बड़ी कठिनाई पैट्रोल का राशन टूट जाने से हुई। मुझे राशन के दिनों में कुल मिलाकर ३० गैलन प्रति मास मिलता था। यद्यपि मेरी कार जोंक की तरह पैट्रोल पीती थी, मैं इसी मात्रा से काम चला लेता था। कमखर्ची का बड़ा अच्छा बहाना था। राशन टूटते ही पैट्रोल का खर्च बढ़ गया। एक-दो बार तो पैट्रोल का खर्च महीने में १५०) से भी अधिक चला गया। यदि कहीं मेरी गाड़ी महीने में आठ दिन बिगड़ी न रहती तो यह खर्च और भी बढ़ गया होता। इसलिए गाड़ी को बिल्कुल ही 'टिप्टन' रखने के पक्ष में भी मैं नहीं था।

दूसरी असुविधा राशन टूटने से यह हुई कि अचानक सड़क पर रुकी हुई गाड़ियों की संख्या घटकर नहीं के बराबर रह गई। पहले सहसा पैट्रोल खतम हो जाने से अक्सर चौराहों पर एक तरफ खड़ी कारों के

दर्शन होते थे। इस तरह जो कारें इंजिन की खराबी के कारण रुक जाती थीं उनका दोष भी छिप जाता था। अब स्थिति बदल गई। मेरी बिगड़ी हुई कार को सड़कों पर साथी मिलने कठिन हो गए। बेमौके उसका रुक जाना अब ड्राइवर और मालिक को ही नहीं बल्कि रास्ता चलनेवालों को भी खटकता।

स्टूडीबेकर की मरम्मत और इंजिन आदि के सुधार के लिए विशेष यत्न न किए गए हों, ऐसी बात भी नहीं। नई दिल्ली के खर्चीले गराजों से लेकर जामा मस्जिद और मोतियाखान में बैठे रुपयों का काम कौड़ियों में करनेवाले कारीगरों में से शायद ही किसी को छोड़ा गया हो। दो साल में सर्विस और मरम्मत पर जो खर्च किया गया वह २,२००) से कुछ ऊपर है। फिर भी यह सभी कारीगरों की राय है कि मेरी गाड़ी का इंजिन अव्वल दर्जे का है, बस अगर 'कारबोरेटर' साफ हो जाय और 'क्लच प्लेट' बदल दी जाय तो यह नई-की-नई है। मेरे हजार कहने पर भी कि ठीक ये ही मरम्मतें कई बार करा चुका हूँ, वे अपना मत बदलने को तैयार नहीं।

एक रोज ड्राइवर और कार को पहाड़गंज थाने के पास सड़क पर छोड़ मैं पैदल घर आ रहा था। मुझे सहसा कुछ याद आया। मैंने जेब से नोटबुक निकाली और सरदार दीवानसिंहजी का पता देखा। घर आने के बजाय मैं सीधा सरदारजी के दफ्तर की तरफ चल दिया। सरदारजी बड़े तपाक से मिले और काफी हाउस में जाकर काफी पीने का उन्होंने आग्रह किया। यह समझकर कि काफी के प्याले पर सब पुरानी स्मृतियाँ फिर से जाग्रत हो जायँगी और सरदारजी से बात करने में मुझे सुविधा रहेगी, मैंने इस सुझाव का स्वागत किया। काफी हाउस में

बैठते ही मैंने उनसे निवेदन किया कि जो स्टूडीबेकर उनकी कृपा से खरीदी थी, उसे बिकवाने में वे मेरी सहायता करें।

मैं आशा कर रहा था कि सरदारजी इस प्रस्ताव का विरोध करेंगे। परन्तु मैं उनका रुख देखकर हैरान रह गया। मेरी बात सुनते ही कॉफी का प्याला मेज पर रख वे बोले—"हाँ-हाँ, उस गाड़ी को तो अब निकाल ही डालिए। सालों चली हुई तो वह पहले ही थी, अब दो साल आप चला चुके। मैंने एक-दो बार आपको उसमें आते-जाते देखा है। अब तो वह ठेले की तरह चलती होगी। सैकिण्डहैंड गाड़ियों का तो यही हाल रहता है। साल-छः महीने से ज्यादा उन्हें रखना ठीक नहीं। आजकल बाजार में बहुत अच्छी-अच्छी गाड़ियाँ आ रही हैं। आपके लिए 'हिलमैन' आदर्श गाड़ी रहेगी। छोटी की छोटी, बड़ी की बड़ी। अभी दस दिन हुए, आपके दोस्त रस्तोगी ने 'हिलमैन' खरीदी है।"

गिरगिट की तरह उनका रंग बदला देख मुझे विस्मय के साथ कुछ क्रोध भी आया। दो घूँटों में ही कॉफी का प्याला खतमकर मैंने सरदारजी से कहा—"क्षमा कीजिए, आपने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया। कौन-सी कार ठेले की तरह चलती है और कौन-सी हवा की तरह, इन सवालों में मेरी दिलचस्पी नहीं। मैं तो अपनी स्टूडीबेकर के बेचने में आपकी मदद चाहता हूँ। कृपा करके मुझे कोई ग्राहक टकराइए।"

मेरे जले-कटे शब्दों से शायद सरदारजी को दो साल पुरानी सारी बातें याद आ गईं। रुख बदलते हुए वे बोले—"दो साल हुए मैंने आपसे जो कहा था वह बिलकुल ठीक था। मुझे चार रोज दीजिए। मैं कोई न कोई ग्राहक खड़ा कर दूँगा। तीन हजार में तो वह बिकी पड़ी है।"

अब मेरे चेहरे पर कुछ हँसी आई। दिल का बोझ हलका हुआ।

मैंने काफी का एक और प्याला माँगा। काफी पी और चार दिन बाद सरदारजी से मिलने का स्थान और समय निश्चित कर मैं शांतिपूर्वक घर आ गया। पूरा एक सप्ताह बीत गया, परन्तु निश्चित समय पर सरदारजी नहीं आए। काम तो मेरा था, इसलिए मैं फिर उनके दफ्तर पहुँचा। मुझे देखते ही वे थोड़े से सटपटाए। एक मिनट कुछ सोचकर बोले—"चलिए, दरियागंज चलें। वहाँ एक आदमी से कुछ बात हुई है।"

कार में बैठ हम दोनों किसी सज्जन के यहाँ जा पहुँचे, जिन्हें मैं नहीं जानता था। सरदारजी उन्हें एक तरफ ले गए और कुछ दूर बात करने के बाद मेरे पास लौट आए। बोले—"चलिए वापस चलें। इस आदमी की नीयत कार खरीदने की नहीं है।" मैंने पूछा—"बताइए तो सही क्या देता है।" वे बोले—"यह तो अधिक से अधिक दो हज़ार कहता है। असल में माडल बहुत पुराना है। चाहे कितनी ही अच्छी गाड़ी हो, लोग १९३७ सुनकर घबरा जाते हैं। कोई बात नहीं, दो-चार दिन और ठहरिए, २,५००) से ऊपर ही दिलवाऊँगा।"

घर आकर मैंने कुछ मित्रों से बात की और अपनी पत्नी से परामर्श किया। सभी ने यह मत प्रकट किया कि दो हजार मिलें तो वही सही। इस समय जो मिले ले लेना चाहिए। मैं फिर सरदार साहब के पास पहुँचा और उनसे कहा—"चलिए दो हजार ही दिलवाइए।" सरदारजी ने उन सज्जन को फोन किया। पता लगा कि वे चार दिन के लिए मसूरी चले गए हैं। सरदार साहब ने फिर मुझे सान्त्वना देनी शुरू की—"हेमन्तजी, घबराइए नहीं, अब मैं आपकी कार अच्छे दामों पर बिकवाकर हटूँगा। बस दो-चार दिन की ही बात समझिए।"

मैंने कई एक और मित्रों से भी सहायता के लिए कह रखा था। एक मित्र मेरे यहाँ एक सज्जन को लाए, जो गाड़ी को देखने के बाद दो-तीन मील उसमें घूमे भी। सोच-विचार के बाद उन्होंने १,६००) देने की बात कही। मेरे कुछ कहने से पहले ही मित्र ने उन महाशय को इन्कार कर दिया। जब वे चले गए तो मेरा मित्र बोला—"इसमें भी कहाँ का तुक है कि तीन हजार की कार को १६००) में फेंक दिया जाय। इतने दाम तो इसके कभी भी मिल सकते हैं।"

इसी तरह पन्द्रह दिन बीत गए। मैं दिनभर कार के सौदे में ही उलझा रहता और मेरी दिनचर्या चौपट हो गई। इन पन्द्रह दिनों में कम से कम छः सज्जन कार को देखने आए। इनमें से एक भी १,४००) तक नहीं पहुँचा। मैं बहुत परेशान हो चुका था। सीधा अपने मित्र के यहाँ पहुँचा और आग्रहपूर्वक कहा - "चलो भाई १,६००) ही दिलवाओ, हमें ज्यादा नहीं चाहिए। आपने कहा था न इतना तो कभी भी मिल जायगा।" मित्र ने कहा—"बहुत अच्छा, शाम को मिलूँगा।" वे शाम को पधारे, परन्तु अकेले ही जैसे कोई बहुत ही गोपनीय बात करनी हो। मेरे पास आकर कान में कहने लगे—"हेमन्त, तुम्हारी गाड़ी का शो अच्छा नहीं। चलती च हे कितनी ही अच्छी हो। बाहर का टूटा हाल देखकर सभी १,०००), १,२००) तक इसे हथियाना चाहते हैं। तुम इस पर नया रोगन करा लो, मैं सस्ता ही करा दूँगा। २००) खर्चकर कम से कम ६००) अधिक पा सकोगे।"

गाड़ी काम तो आ ही नहीं रही थी। और सब रास्ते बन्द देख मैंने रोगन के लिए गराज में भेज दी। एक सप्ताह बाद जिस चमक-दमक से वह लाई गई, उसे देखकर सारा परिवार गद्‌गद् हो गया।

सबकी यही राय हुई कि गाड़ी को अब न बेचा जाय। परन्तु जिस कार ने एक गैलन में दस मील से अधिक चलने की कसम खा रखी हो, उसे कोई कब तक रख सकता है ? फिर विचारों ने पलटा खाया। फिर यार-दोस्तों से अपीलें की गई और फिर कई ग्राहकों से बात हुई। जब एक आदमी ने ६००) देने की बात कही तो मैंने झुँझलाकर उसे डाँटा—"जब मैंने आपसे अभी कहा कि १००) की तो नई बैटरी इसमें डाली गई है। और २००) रोगन के दिये हैं...."

बड़े धैर्य से सिर पर हाथ फेरते हुए वह साहब बोले—"आप चाहें तो इसमें ८००) का रेडियो लगवा लें। मैं नए रोगन का खरीदार नहीं, मैं तो चलती-फिरती कार चाहता हूँ। आपने इस पुराने छकड़े पर इतना शोख रोगन कराकर वही बात की है जिसे गाँव वाले कहते हैं—बूढ़ी घोड़ी लाल लगाम।"

मैंने निश्चय किया कि ऐसी ऊटपटाँग बातें अब नहीं सुनूँगा। अब मैंने कार को अपने गराज में बन्द कर दिया है। नगर के प्रमुख कबाड़ियों से बातचीत चल रही है। ये लोग मुझे सबसे ईमानदार दिखाई दिए हैं।

जामा मस्जिद वाले मूसा खाँ ने कार का मूल्य इस प्रकार ठहराया है—

लोहा	७००)
कलपुर्जे	४५०)
नए-पुराने टायर-ट्यूब	१००)
जोड़	१,२५०)

सौदा पक्का हो गया

जब दस दिन तक मूसा खाँ का आना न हुआ तो मुझे कुछ चिन्ता होने लगी। मैंने अपने ड्राइवर चेतसिंह से कहा—"हम ही गाड़ी को जामा मस्जिद क्यों न ले जाएँ।" चेतसिंह ने मुस्तैदी से जवाब दिया—"जरूर साहब, गाड़ी चलने में बुरी नहीं। हुक्म हो तो आपको मेरठ तक घुमा लाऊँ, जामा मस्जिद तो दूर ही क्या है?" मैंने उसे गराज से गाड़ी बाहर निकालने को कहा। दस मिनट बाद हम दोनों जामा मस्जिद चल दिए।

घंटों पूछताछ के बाद मूसा खाँ की दूकान का पता लगा। उसकी दूकान लोहे के पुराने कल-पुर्जों से अटी पड़ी थी। हमें देखते ही मूसा खाँ भागा आया। दूकान के आगे जो लकड़ी के बक्से पड़े थे उन्हीं पर हम बैठ गये और बातचीत करने लगे। मैंने कहा—"लीजिए गाड़ी आपके सुपुर्द है। १,२५०) दिलवाइए और फिर मैं आपसे इजाज़त लूँ।"

मेरी बात का जवाब देने के बजाय मूसा खाँ लपककर गाड़ी में जा बैठा और एक-एक करके उसके सारे बटन दबाने लगा। कभी बौनट ऊपर उठाता, कभी हौर्न बजाकर देखता और कभी गाड़ी स्टार्ट करके बड़े ध्यान से इंजिन के शोर को सुनता।

आध घंटे बाद मूसा खाँ गाड़ी से बाहर निकला और बुसबुसा मुँह बनाकर बोला—"जनाब अन्दाजे में कुछ गलती हुई। गाड़ी के टायर बिलकुल निकम्मे हो चुके हैं। इंजिन के कल-पुर्जे भी सभी घिस चुके

हैं। माफ कीजिएगा, ज्यादा से ज्यादा मैं इसके ६००) दे सकूँगा।"

अपने यहाँ बुलाकर १,२५०) से एकदम ६००) की बात करना मुझे बहुत अखरा। क्रोध में आकर मैंने कहा—"माफी आपसे मुझको ही माँगनी चाहिए। मेरा ही कसूर है कि मैंने आप पर भरोसा किया। जब आपने १,२५०) ठहराए थे मुझे सौ-पचास रुपये बयानें के ले लेने चाहिए थे। मुझे क्या पता था कि आप लोगों को वतीरा ही ऐसा होता है। चलिए मेरा आपसे कोई झगड़ा नहीं। मैं इसके १,२५०) से एक कौड़ी भी कम न लूँगा।"

सौदे को इस तरह तोड़ मैं अकड़ के साथ गाड़ी में जा बैठा और चेतसिंह से घर वापस चलने को कहा। हम दोनों ही बौखलाए हुए थे। ज्योंही सदर बाजार में दाखिल हुए मेरी कार की एक बैलगाड़ी से बड़ी जोर की टक्कर लगी। मडगार्ड के बीच से दो हो गए। बैलगाड़ी में शीशे का सामान था। बहुत-सा टूट गया। १०) देकर गाड़ीवाले से पीछा छुड़ाया गया। किसी-न-किसी तरह घर तक पहुँचे।

घर पहुँचते ही चेतसिंह और मैंने गाड़ी को अन्दर-बाहर और ऊपर-नीचे से खूब देखा। दुर्घटना से जो नुकसान हुआ था उस पर विचार किया गया। तुरन्त यह खयाल आया कि गाड़ी का एक बहुत बड़ी कम्पनी के साथ बीमा कराया हुआ है। यह खयाल आते ही दुर्घटना एकदम स्वर्ण अवसर में परिवर्तित हो गई। अपने गाढ़े पसीने की कमाई से कार की मरम्मत कराते-कराते मैं हार चुका था। अब दूसरे के सर बढ़िया-से-बढ़िया गराज में मरम्मत कराई जायगी। इस विचार से मन मोर की तरह नाचने लगा।

ऐसे शुभ कार्य में देर का क्या काम! उस समय मैंने अपने कृपालु

मित्र हेमराज को फोन किया जिन्होंने मेरी कार का बीमा किया था। वे भी न जाने वर्षों से इसी इंतजार में थे कि कब मेरी गाड़ी चकनाचूर हो और मैं उन्हें बुलाऊँ। आध घंटे के भीतर छपे हुए फार्म लेकर आ पहुँचे। खूब आनन्द से फार्मों में खानापूरी की गई। हेमराजजी ने मुझे विश्वास दिलाया कि वे कम्पनी से उदारतापूर्वक पैसा दिलवाएँगे। भगवान ने चाहा गाड़ी नई हो जायगी।

तीसरे ही दिन इंश्योरेंस कम्पनी की चिट्ठी आई और उनका एक प्रतिनिधि मेरी गाड़ी ले गया जिसे उसने कनाट प्लेस के एक बढ़िया गराज के सुपुर्द कर दिया। कुछ दिन बाद मुझे पता लगा कि गराज द्वारा दिया गया मरम्मत का अनुमान ५२६) है। यह जानते हुए भी कि इसमें मुझे एक पैसा भी नहीं मिलेगा, मैं बड़ा खुश हुआ। कम्पनी भी कमाल की निकली। उसने पूरा अनुमान स्वीकार कर गराज को मरम्मत शुरू करने का आदेश दे दिया।

अब मैंने गराज के चक्कर काटने शुरू किए। हमेशा यही पता लगता कि आगामी शनिवार को गाड़ी तैयार मिल जायगी। पूरे दो महीने बीत गये पर वह शुभ शनिवार न आया। एक दिन मुझे सपत्नीक कहीं जाना था जिसके लिए गाड़ी की बड़ी आवश्यकता थी। गराज वाले ने वचन दिया कि सुबह १० बजे गाड़ी मकान पर पहुँच जायगी। जब १२ बजे तक कार के दर्शन नहीं हुए तो मैं ताँगा लेकर सीधा गराज पहुँचा। मेरी गाड़ी पहले की तरह एक कोने में खड़ी थी। यह देखकर मैंने मैनेजर को बहुत बुरा-भला कहा। उसने वादा किया कि इस बार जो शनिवार आएगा उसको गाड़ी अवश्य तैयार मिलेगी।

गराज से मैं सीधा हेमराजजी के पास पहुँचा और उनसे कहा—

"आपकी कम्पनी भी खूब मजाक करती है। तीन महीने होने को आए, मरम्मत का काम शुरू तक नहीं हुआ है। मेरी कार गराज में इस तरह पड़ी है जैसे उसका कोई वली-वारिस ही नहीं, जब कि दूसरी कारों की बराबर मरम्मत होती रहती है। मैं आज कसम खा चुका हूँ कि गराज की शक्ल न देखूँगा। अब यह आपका या आपकी कम्पनी का काम है कि सन्तोषजनक मरम्मत कराके गाड़ी मेरे घर पहुँचाई जाय। मुझे इन दिनों जो कष्ट हुआ है वह मैं ही जानता हूँ। बीसियों रुपये जो आने-जाने में खर्च हो गए वह भी मुझे ही पता है।"

हेमराजजी ने बड़े धैर्य से मेरी बात सुनी। बहुत शांत स्वर में पिन से दाँतों को कुरेदते हुए वे बोले—"हेमन्तजी, क्रोध आपको शोभा नहीं देता। गराजवालों का पेशा ही ऐसा है। वे अगर समय पर चीज देने लगें तो उनकी दूकानदारी ठप हो जाय। दर्जी, मोची, सुनार, धोबी और गराजवाले ये सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। और रही बात आपके कष्ट की इसका सचमुच मुझे दुख है। पर एक बात है। आप जिन सिद्धान्तों का बखान किया करते हैं यदि उनमें सचाई है तो आपको कष्ट होना नहीं चाहिए। गाड़ी तो आपको बेचनी ही है। छः महीने से आप इसी फेर में हैं। यदि गाड़ी रहते हुए बिना गाड़ी के चलने-फिरने का अभ्यास हो जाय तो इसमें क्या बुराई है?"

मुझे स्वप्न में भी यह खयाल न था कि हेमराज इतने समझदार आदमी होंगे और मेरा ही सिद्धान्त मुझ पर लागूकर मुझे इस प्रकार निरुत्तर कर सकेंगे। उनके संबंध में मेरी राय बदल गई। मैं उन्हें विद्वान और बुद्धिमान समझने लगा। परन्तु साथ ही मैंने यह निश्चय कर लिया कि आगे को इस आदमी से बीमा कभी न कराऊँगा।

इस घटना के ठीक पाँच दिन बाद ९ बजे के करीब हेमराज मेरे घर आए। मैं दफ्तर के लिए तैयार हो रहा था। मुझे देखते ही उन्होंने कहना शुरू किया घबराइए नहीं, आराम से तैयार हों। गाड़ी आ गई है। आज अगर आप पौने दस बजे चलें तो भी समय पर दफ्तर जा पहुँचेंगे। मैंने बरामदे से नीचे झाँककर देखा तो सचमुच गाड़ी खड़ी थी। देखने में बड़ी सुन्दर लग रही थी। गद्दियों के गिलाफ धुले थे। बाहर से भी धो-पोंछकर खूब साफ कर दी गई थी।

जल्दी-जल्दी तैयार हो मैं सपत्नीक गाड़ी देखने नीचे पहुँचा। अन्दर बैठकर बहुत आनन्द आया। एक-दो मील इधर-उधर घूम-फिरकर पत्नी को तो घर छोड़ा और मैं दफ्तर की ओर चल दिया। उस दिन दफ्तर में मुझे दिन-भर गाड़ी का ही खयाल रहा। चाहे कोई दो मिनट के लिए मिलने आया हो, चाहे घंटे भर के लिए, वह मुझ से कार के संबंध में कुछ सुने बिना वापस न लौट सका। शाम तक सारे दफ्तर में खबर फैल चुकी थी। ५ बजे मैंने सभी पुराने मित्रों को फोन कर दिया कि वे घर बस या ताँगे से न जाएँ, मेरी कार ठीक हो गई है। इसलिए मेरे साथ ही चलें।

मित्रों के पहुँचते ही मैं सब काम छोड़ दफ्तर से उठ खड़ा हुआ। कार ठीक होने की खुशी में डटकर चाय पी गई और फिर बेमतलब कई स्थानों के चक्कर काटते हुए हम घर लौटे। प्रत्येक मित्र को घर पहुँचाया गया। इस प्रकार मैं साढ़े आठ बजे घर पहुँचा। सभी मित्रों ने सच्चे हृदय से परामर्श दिया कि कार बहुत बढ़िया हो गई है, उसे अब बेचा न जाय। उनका कहना था कि दिल्ली में बिना कार के गुजारा नहीं, अगर यह बेच दी गई तो नई गाड़ी के लिए नौ हजार रुपया जुटाना

पड़ेगा। मैं यह जानता हुआ भी कि ये सब बातें ऊपरी दिल से हो रही हैं उनकी हाँ में हाँ मिलाता रहा।

यद्यपि मुझे पूरा विश्वास था कि इस कार से पीछा छुड़ाने में ही मेरा कल्याण है, फिर भी उसे बेचने का मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया। इन्हीं दिनों दो-तीन दलाल मुझे मिले, परन्तु मैंने शराफत से किसी से बात नहीं की। मुझे पुराना किस्सा अभी याद था। इसलिए मैं नहीं चाहता था कि उस दुखद काण्ड को फिर से दोहराया जाय। मैंने सोचा देखा जायगा, जब तक स्टूडीबेकर आराम से चलती है इसका सुख भोगा जाय।

गराज से निकले कार को अभी मुश्किल से पन्द्रह दिन हुए थे कि एक दिन एक सज्जन मुझे दफ्तर में मिले। उन्होंने अपना नाम स्वामी बताया और कहा कि उनका काम सैकिंडहैंड कारें बिकवाना है।

एक निपुण व्यापारी की हँसी चेहरे पर ला स्वामी बोले—"इन बातों का मुझे सब पता रहता है। कहें तो सौ आदमियों की सूची बना दूँ जो दिल्ली में इस समय अपनी कारें बेचना चाहते हैं। मैं तो शक्ल देखकर पहचान लेता हूँ सैकिंडहैंड कार रूपी ज्वर किसे चढ़ा है। श्रीनिवास, आप्टे, बेनीप्रसाद, कृष्णमूर्ति ये सब लोग आप के मित्र हैं। सबकी कारें मैंने ही बेची हैं।"

स्वामी के इस ब्यौरे से प्रभावित हुए बिना मैं कैसे रह सकता था? अनायास मेरे मुँह से भी निकल गया—"अच्छा चलिए, मेरी गाड़ी को देखिए और बोलिए इसका क्या कुछ दिलवाइएगा।" आश्चर्यजनक चुस्ती से उन्होंने उत्तर दिया—"देखी हुई चीज का क्या देखना! मैं तो आपकी कार को सालभर से देख रहा हूँ। मुझे सब पता है कि इसको

किस-किस के हाथ लगे हैं। आप कहें तो इसका आज ही सौदा करा दूँ।"

मैंने स्वीकृति दे दी। ठीक आध घंटे बाद स्वामी महोदय फिर आ धमके और उन्होंने मुझे कार के पास चलने का संकेत किया। मेरी कार के पास दो आदमी खड़े थे। वे देहाती लोग थे, एकदम अनपढ़। जान पड़ता था कारों के सम्बन्ध में उन्हें कुछ पता नहीं। भगवान जाने स्वामी ने उनसे किस भाषा में बातचीत की क्योंकि वे देहाती हिन्दी के सिवा कुछ नहीं जानते थे और स्वामी केवल अँग्रेज़ी और तामिल के मालिक थे। स्वामी ने अपने ग्राहकों की ओर से कार के दाम पूछे। मैंने संकोच के साथ २,२००) बताया। दस मिनट की सौदेबाजी के बाद उन्होंने १,६००) देना स्वीकार किया। मैं इस पर राजी हो गया। परन्तु हैरान था कि इन लोगों ने कार को न अच्छी तरह देखा न ट्राई ली। मैं सोचने लगा कहीं मुझे धोखा तो नहीं दिया जा रहा। इस शंका का समाधान होते भी देर न लगी। एक चौधरी ने तुरन्त अपनी जेब से सौ-सौ के १६ नोट निकालकर मेरे हवाले किए। स्वामी को उसकी फीस दे बाकी मैंने अपनी जेब में डाल लिए। एक कागज का टुकड़ा लेकर रसीद बना दी गई जो समेत कार की चाबी के चौधरी रामभज के हाथ पर रख दी। बस, सौदा खतम हुआ। मैं उठकर अपने कमरे में आ गया।

मैं बराबर सोच में पड़ा हुआ था कि पुरानी कार जैसी चीज का सौदा इतनी आसानी से कैसे हो गया! मैं अपने-आपसे यह प्रश्न पूछता और मेरा दिल स्वयं इसका जवाब देता कि हर चीज का समय होता है। मेरी स्टूडीबेकर का भी समय आ गया होगा। कभी मैं सोचता

आखिर शहर के लोगों और देहातियों में यही तो अन्तर है। देहाती बहुत सीधे और सरल होते हैं। मैंने कहा गाड़ी ठीक है और चलती फिरती है और उन्होंने मेरा विश्वास कर लिया।

चौधरी रामभज से बिदा लेते समय मैंने दबी जबान से केवल एक ही प्रश्न पूछा—"चौधरीजी, आप इस कार का क्या कीजिएगा?" उन्होंने उत्तर दिया—"म्हारे गाँव माँ जिला बोर्ड के चुनाव हो रहे हैं। इस काम के लिए हमें तीन-चार तगड़ी गाड़ियाँ चाहिएँ।"

कार बेचने के चार दिन बाद मैंने चौधरी रामभज को पत्र लिखा कि गाड़ी कैसी चल रही है, उसके कारण उन्हें कोई कष्ट तो नहीं हुआ। जिला बोर्ड के चुनाव की भी उनसे बहुत कुछ पूछताँछ की। यह चिट्ठी लिखे हुए आज एक महीना हो गया है पर कोई जवाब नहीं आया। हो सकता है मेरा पत्र रामभज को मिला ही न हो, और यदि मिल भी गया हो उसे पढ़ने की उन्हें फ़ुर्सत न मिली हो। चुनाव चीज ही ऐसी है। देहात के लोग इसीलिए चुनाव की शतरंज के खेल से उपमा देते हैं।

मेरा ड्राइवर

जिस कार की गति ऐसी असाधारण रही हो उसे चलाने वाला व्यक्ति भी साधारण नहीं हो सकता। जो आदमी जीवन में पहली बार कार खरीदता है वह खरीदने से पहले महीनों उसकी चर्चा करता है। और जब सैकिंडहैंड कार खरीदी जाती है तब तो मित्रों और पड़ोसियों में सौदे का अच्छा खासा विज्ञापन हो जाता है। सरदार दीवानसिंहजी की कृपा से जिस दिन स्टूडीबेकर खरीदी गई उससे आठ दिन पहले ही मैं चेतसिंह को रख चुका था। करता भी क्या, एक महीने की अवधि में मेरे पास कम-से-कम बीस ड्राइवर आए होंगे। उनमें से प्रायः सभी के पास प्रमाण-पत्र मौजूद थे। किसी का दावा था कि उसने बन्नू-कोहाट के इलाके में १८ साल कार चलाई, परन्तु कभी दुर्घटना नहीं हुई। कोई कहता था कि विभाजन के दिनों में अपनी जान को संकट में डालकर वह अपने मालिक का सारा सामान लाहौर से निकाल लाया। दो-चार ऐसे भी थे जो अपने-आपको रण-बाँकुरे कहते थे और कई साल पलटन में रह चुकने के कारण बड़े ठाठ से सैल्यूट करते थे।

चेतसिंह भी इन्हीं बाँके जवानों में से था। जब उसने कोहिमा के घेरे की आकर्षक कहानी सुनाई, मैं इतना प्रभावित हुआ कि उसे तुरन्त नौकर रख लेने का वचन दे दिया। वह चार साल पलटन में रहा था, जिसमें से दो साल उसने आसाम और बर्मा में बिताए थे। चिन्दविन घाटी, बर्मा रोड और मणिपुर की पहाड़ियों का उसने ऐसा चित्र खींचा

मानों बर्मा में लड़ने वाले सिपाहियों को रसद पहुँचाने का सारा भार चेतसिंह के ही सिर पर रहा हो !

जिस समय मैंने उसे नौकर रखा, उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी। वह नाटे कद और गठे शरीर का जवान था। जिस मित्र ने भी देखा उसी ने मुझे बधाई दी। कार के आते ही चेतसिंह के चेहरे पर रौनक आ गई। दो दिन में ही उसने गाड़ी को झाड़-पोंछकर खूब चमका दिया। मुझे और मेरे परिवार को विश्वास हो गया कि ऐसे कुशल ड्राइवर के हाथों में गाड़ी बिल्कुल ठीक रहेगी। अपने नौकर के क्वार्टर के साथ ही मैंने चेतसिंह को एक कमरा रहने के लिए दे दिया।

थोड़े दिन बाद हमें पता लगा कि चेतसिंह गढ़वाल के एक सम्भ्रांत परिवार का कुलीन राजपूत है। वह बिलकुल साहबों की तरह रहता और सवेरे उठते ही चाय के साथ मक्खन-डबलरोटी खाता। खाना खाने का प्रबन्ध उसने पास ही एक होटल में कर लिया। चेतसिंह की चुस्ती, सफाई आदि के कारण आसपास के जितने नौकर थे सभी उसका आदर करने लगे। इस सद्भावना से उसी को सन्तोष नहीं हुआ मुझे भी पूरा-पूरा लाभ हुआ। मैं जब कभी गराज की तरफ जाता तो चेतसिंह के दो-चार चेलों को गाड़ी की सफाई करते पाता और चेतसिंह पतलून की जेबों में हाथ डाले एक तरफ सिगरेट पीता दिखाई देता। जब पहली बार मैंने यह दृश्य देखा तो मुझे कुछ हँसी आई। चेतसिंह चुस्ती से मेरे पास आया और बोला—"साहब, पलटन से हम लोगों ने यही सीखा है। दूसरों को ट्रेनिंग देने में हर सिपाही तत्पर रहता है। आजकल मैं इन तीन लड़कों को ट्रेनिंग दे रहा हूँ। गाड़ी

झाड़ना, बौनट साफ करना और प्लग आदि देखना, यह सब काम इन लड़कों को सिखा दिया है। इसी तरह दिल से काम करते रहे तो दो महीने में ये लड़के सब कुछ सीख जायँगे। हमारा इसमें कोई हर्ज नहीं, क्योंकि मैं उन्हें इंजिन छूने की इजाजत नहीं देता।"

चेतसिंह के उत्साह से मुझे खुशी हुई, परन्तु भय भी हुआ कि धीरे-धीरे वह भलामानस कहीं मेरे गराज में मोटर-ट्रेनिंग स्कूल न खोल बैठे। इसलिए उस रोज दफ्तर से आते समय मैंने उसे कुछ समझाया और सतर्क रहने का आदेश दिया।

चेतसिंह का सबसे बड़ा गुण उसकी सहज बुद्धि थी। वह मालिक के मन की बात को खूब भाँपता था। एक दिन मेरे पास एक सज्जन आए जिन्हें मैं अच्छी तरह जानता भी नहीं था। वे आग्रह करने लगे कि शाम को उनके लड़के की बारात लोधी रोड जा रही है, इसलिए तीन घंटे के लिए मैं अपनी कार उनके यहाँ भेज दूँ। चेतसिंह पास ही खड़ा था। पड़ोसी होने के नाते मैंने कार भेजने से इंकार करना ठीक नहीं समझा। इसलिए चेतसिंह से कह दिया कि वह सात बजे उनके यहाँ चला जाए। जब आठ से पहले ही चेतसिंह घर लौट आया तो मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उससे पूछा कि क्या बात है। उसने कहा—"कुछ नहीं, गाड़ी में मामूली सी खराबी हो गई है। मैं खोसला साहब की आज्ञा से वापस आ गया हूँ।"

इसी प्रकार अनेक अवसरों पर चेतसिंह की बुद्धि परखने का अवसर मुझे मिला। उसने सदा मेरे दिल की बात ऐसी पहचानी जैसे बच्चा स्लेट पर लिखे अक्षरों को समझ लेता है। ऐसा समझदार ड्राइवर पा मैं अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली समझने लगा।

अपने काम में भी चेतसिंह कम होशियार नहीं था। जब कभी गाड़ी चलते-चलते रुक जाती, ठीक हो जाने तक वह सदा दत्तचित्त हो इंजिन आदि का दोष समझने का यत्न करता रहता। उसके अध्यवसाय की कोई सीमा नहीं थी। कई बार उसे सड़क के किनारे तीन-तीन घन्टे खड़ा रहना पड़ा, पर उसने कभी हार नहीं मानी। किसी-न-किसी तरह वह गाड़ी को मना ही लेता था। मैं अक्सर सोचता हूँ कि यदि मुझे चेतसिंह जैसा कुशल ड्राइवर न मिलता तो वह स्टूडीबेकर तीन साल के बजाय शायद मेरे पास तीन महीने ही रह पाती। उसकी बुद्धि और सूझ-बूझ से गाड़ी में पैदा होने वाली कमियों की बहुत कुछ पूर्ति हो गई थी। कई बार ऐसा हुआ कि गाड़ी बिल्कुल ठीक है और पैट्रोल खतम हो जाने के कारण हम एक तरफ लटके रह गए। ऐसे अवसरों पर भी चेतसिंह ही काम आता था। किसी-न-किसी तरह कहीं-न-कहीं से पैट्रोल प्राप्त कर ही लेता था। एक बार फरीदाबाद से वापस आते समय बद्रपुर के पास पैट्रोल खतम हो गया। मेरा खयाल था कि पीछे एक टीन में तीन गैलन पैट्रोल रखा है। जब पिछले खाने का ढक्कन उठाकर देखा गया तो टीन ही गायब था। मुझे कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। मेरी तरफ़ देखकर चेतसिंह आप बोल उठा—"साहब, वह टीन तो घर रह गया। आते समय मुझे गाड़ी में रखने का ध्यान नहीं रहा।" मैंने कहा—"अब क्या करोगे? कहीं भी पाँच मील से पहले पम्प नहीं है।" बड़ी मुस्तैदी से पूरे भरोसे के साथ उसने कहा—"आप चिन्ता न करें। अभी प्रबन्ध किए देता हूँ।"

मैं अन्दर बैठा कुछ पढ़ने लगा और चेतसिंह सड़क की दूसरी ओर खड़ा हो गया। मथुरा की तरफ से एक फौजी गाड़ी आ रही थी।

चेतसिंह ने उसे रोका और झट से ड्राइवर के साथ अन्दर जा बैठा। पूरे बीस मिनट तक वह गाड़ी वहीं खड़ी रही। मैं सोचता ही रहा कि ये लोग क्या बातें कर रहे हैं, परन्तु मैंने दखल देना ठीक नहीं समझा। सहसा उस गाड़ी का दरवाजा खुला। अन्दर से दो आदमी निकले इनमें एक चेतसिंह था। दोनों सीधे मेरी तरफ आ रहे थे। आते ही दूसरे आदमी ने फौजी ढङ्ग का सैल्यूट कर मुझे कागज में लिपटी कोई चीज भेंट की। ये मथुरा के पेड़े थे। उपहार को सधन्यवाद स्वीकार करते हुए मैंने कहा कि पेड़ों की अपेक्षा पैट्रोल की अधिक जरूरत है। इस पर फौजी जवान ने उत्तर दिया—"तीन गैलन पैट्रोल चेतसिंह को दे दिया गया है जो वह गाड़ी में डाल रहा है।" मेरे बहुत आग्रह करने पर भी फौजी ड्राइवर ने पैट्रोल का दाम स्वीकार नहीं किया।

देखते-ही-देखते फौजी गाड़ी वहाँ से चल दी और आँखों से ओझल हो गई। कुछ मिनट बाद ही हमारी गाड़ी भी चल दी।

पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार काम करने की मेरी आदत नहीं। प्रायः जैसा मन कहता है वैसा ही करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। इस सीधी-सी आदत के कारण मुझे शुरू में कुछ कष्ट अवश्य हुआ, पर आदत फिर भी बनी रही। घर से बाहर निकलते समय मैंने कभी जेब में हाथ डालकर नहीं देखा कि उसमें क्या है, क्या नहीं है और क्या होना चाहिए। खाली फाउन्टेनपेन की टोपी को देख कर मैं समझ लेता था कि सब ठीक है। इसलिए मुझे कई एक बार एक विशेष प्रकार की दुर्घटना का सामना करना पड़ा। कई बार अचानक पैट्रोल खतम हो गया। गाड़ी सड़क के किनारे रुक गई। पैट्रोल के कूपनों से भी जेब भरी है, पर पैसे साथ रखने का ध्यान नहीं

रहा। जब तक चेतसिंह से बात करने में मुझे संकोच रहा, मैं कष्ट का भागी बना रहा; जैसे ही उस पर विश्वास करना शुरू किया, सबके हिस्से के कष्ट उसने अपने ही सिर ओट लिए।

स्टूडीबेकर की आवश्यकताओं को मैंने तीन भाँगों में बाँट रखा था—(१) पैट्रोल (२) कूपन, और (३) रुपया। भगवान् की दया से ऐसा कभी नहीं हुआ कि इन तीनों में से मेरे पास एक भी न हो। हाँ, ऐसा बहुत बार हुआ कि तीनों में से दो हैं, तीसरी नहीं। यह तीसरी चीज कभी पैसा होता था, कभी पैट्रोल और कभी कूपन। चेतसिंह के लिए ये तीनों चीजें एक-से महत्व की थीं। जब गाड़ी रुकती वह गर्व से छाती ठोंककर कहता—"साहब, घबराएँ नहीं, तीन में से केवल दो चीजें चाहिएँ; बोलिए तीसरी कौन-सी हाजिर करूँ।" कृतज्ञतापूर्वक मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि चेतसिंह की गर्वोक्ति कभी खाली डींग नहीं निकली। उसने जो कहा वह सदा पूरा किया।

जब गाड़ी कष्ट देने लगी और उससे पिण्ड छुड़ाने को मैं कई बार चर्चा कर चुका, तब चेतसिंह के विचारों में परिवर्तन होने लगा। जैसे किसान लोग अपने बैलों से स्नेह करते हैं वैसे ही वह स्टूडीबेकर से प्यार करता था। फिर भी मेरी असुविधा से परेशान हो अब कहने लगा था कि अगर अच्छे दाम मिलें तो स्टूडीबेकर को निकाल देने में कोई हर्ज नहीं। जब कोई गाड़ी को देखने आता और किसी कारण सौदा अधूरा रह जाता तो चेतसिंह के दिल पर गहरी चोट लगती। वह बड़े प्रेम से गाड़ी के पास जाता और ममताभरी निगाहों से उसके कल-पुर्जों को देखता, मानों कह रहा हो—"तुम घबराओ नहीं, जल्दी ठीक हो जाओगी।"

जिस दिन स्टूडीबेकर का सौदा हुआ चेतसिंह शाम को घर पर इस अन्दाज से आया जैसे लोग श्मशान से लौटते हैं। उसका मुँह लटका हुआ था। कुछ खाने-पीने को जी नहीं चाहता था। मैंने उसे समझाया कि जल्दी-से-जल्दी दूसरी गाड़ी प्राप्त करने की कोशिश करूँगा।

इस प्रकार एक सप्ताह बीत गया। एक दिन जैसे ही मैं दफ्तर जाने के लिए बस के अड्डे की तरफ रवाना हुआ, चेतसिंह को मैंने कुछ कहते सुना—"साहब, अगर मुझे छुट्टी दे सकें तो बड़ी कृपा हो। जब आप गाड़ी लेंगे तब मैं फिर आ जाऊँगा।"

मैंने हैरान होकर पूछा—"कहाँ जाना चाहते हो?"

वह बोला—"चार-पाँच दिन हुए, मैं आपके मित्र मेजर नेगी से मिला था। उन्होंने मुझे पुलिस में भरती कर लिया है। आपकी आज्ञा हो तो कल से अपना नाम लिखा लूँ।"

यह खबर सुनकर मुझे कुछ संतोष हुआ। मैंने सोचा न जाने दूसरी गाड़ी कब ली जायगी और न जाने कब तक ड्राइवर का खर्चा मुफ्त में पड़ता रहता। सो यह जानकर कि चेतसिंह को कहीं काम मिल गया है, मुझे खुशी हुई।

गाड़ी को बेचे एक साल से ऊपर होने आया है। गाड़ी के बिना गुजर करने का अभ्यास मुझे गाड़ी के रहते हुए ही गया था। इसलिए आजकल खास दिक्कत का सामना करना नहीं पड़ रहा है। कहीं जाने के लिए जब मैं बस में बैठता हूँ और कुछ आने देकर ही गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता हूँ, तो मैं अपने आपको बधाई दिए बिना नहीं रह सकता। अपनी पहली गलती पर कुछ हँसी आती है और हैरानी भी होती है। तब मैं अपने मित्रों पर, जो अब भी कार रूपी ढोल गले

में लटकाए घूमते हैं तरस खाने लगता हूँ। मुझे पैदल चलते देख निस्सन्देह वे भी मुझ पर तरस खाते होंगे।

कुछ भी हो, कोई न कोई घटना प्रति दिन ऐसी घटती है जो मुझे स्टूडीबेकर की याद दिला देती है। उससे भी कहीं अधिक याद मुझे चेतसिंह की आती है जिसकी तत्परता और स्वामिभक्ति के कारण मैंने बहुत सुख भोगा। चेतसिंह के कथन के अनुसार हिन्दुस्तान में बेकारी का सब से बड़ा कारण यह है कि मालिक लोग अपनी कारें स्वयं चलाते हैं। अगर प्रत्येक कार के लिए एक ड्राइवर रखना अनिवार्य कर दिया जाय तो बेकारी की समस्या का समाधान निश्चित है। यह चेतसिंह की राय थी। मैं भी उससे सहमत हूँ। अगर कभी लक्ष्मी ने मुझ पर दया की और मेरे धन को काई लगने का खटका हुआ, तो अवश्य कार खरीदूँगा, किन्तु कार का सौदा करने से पहले ही चेतसिंह को अपने यहाँ ड्राइवर रख लूँगा।

मोटर और मुहावरे

केवल इसलिए कि एम० ए० में मेरा विषय दर्शन-शास्त्र था, कई बार सभा सोसाइटियों में मुझे पागल या अर्धपागल समझ लिया गया है। ऐसे मौकों पर मैंने बहुत विनम्रता से निवेदन किया कि दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध में यह धारणा गलत है। दार्शनिक इसीलिए तो बदनाम है कि वह हर एक बात को विचार का विषय समझता है और जो कुछ समझ में न आए उसे खूब ध्यान से सोचता है। भला इसमें क्या बुराई है ? सच पूछिए तो जो आदमी उलझन में पड़कर भी विचार की डोर ढीली नहीं छोड़ता वह प्राणिमात्र में श्रेष्ठ कहलाने का अधिकारी क्योंकर हो सकता है ?

अपनी कार के कारण—जो मैंने बेच डाली—मुझे नित्य नई उलझनों का सामना करना पड़ता था। शुरू-शुरू में जब उलझनें थोड़ी थीं, मैं बहुत घबराया। कभी-कभी इतना परेशान होता कि किसी दूसरे काम में दिल ही न लगा पाता। ईश्वर की दया से उलझनें इस तेजी से और इतनी अधिक बढ़ीं कि उनके सामने घबराहट बेकार दिखाई देने लगी। ऐसी हालत में आदमी की परेशानी क्या कर सकती है ? मन-ही-मन में मैं गालिब के इस शेर को गुनगुनाता और धीरज धर चुप बैठ जाता—

रंज का खूगर हुआ इन्सां तो मिट जाता है ग़म,

मुश्किलें इतनी पड़ीं मुझ पर कि आसां हो गईं।

इस बात से बेफिक्री का तो जल्दी ही अभ्यास हो गया, पर एक नया रोग लग गया। अब मुझे सोचने की आदत पड़ गई। मैं सोचने लगा कि आखिर ऐसी उलझनों के ताने-बाने से ही तो वह चीज बनती है जिसे जीवन का ठोस अनुभव कहते हैं। अगर जीवन में अनुभव का महत्व है तो निश्चय ही उलझनों का स्थान भी ऊँचा होना चाहिए। यह सोचते-सोचते मुझे एक मित्र की बात याद आ गई। बालक राम को दूध पीने का बहुत शौक था। जब वे किसी भी ग्वाले के दूध से सन्तुष्ट न हुए तो उन्होंने एक गाय पाल ली। कुछ दिनों में ही उनकी वह दुर्दशा हुई जो मेरी हालत से कम न थी। तीन महीने तक वे डंगर के साथ डंगर बने रहे, इससे अधिक निबाहना उनके लिए कठिन हो गया। इसलिए सौ रुपए का पशु उन्होंने साठ में ही चलता किया और फिर बाजार का दूध पीने लगे। थोड़े दिनों बाद जब उनसे मिलना हुआ तब उन्होंने कहा—"गाय न बच्छी, नींद आवे अच्छी।"

मैं सोचने लगा—बालक राम को तो गढ़ा-गढ़ाया मुहावरा मिल गया। अब कार बेचकर मैं निश्चिन्त हुआ हूँ तो मैं लोगों से क्या कहूँ। इस समस्या पर विचार किया, पर कुछ समझ में न आया। जब मैं सोचता-सोचता हार गया तब एक नई बात सूझी। सोचा कि समस्या को मंगलवार-समाज के सामने रखा जाय। मैंने ऐसा ही किया। पहले मित्रों को बात समझाई, फिर उनसे सुझाव माँगा। दुर्भाग्य से समाज में कविता करने वाले तो अनेक थे, मुहावरों के पीर दो-चार ही निकले। एक मित्र ने यह मुहावरा पेश किया—"मोटर न गाड़ी, बीबी पहने बढ़िया साड़ी।"

मुहावरा बुरा नहीं, पर कुछ लोगों को बेतुका जँचा। उन्होंने कहा—मोटर और पत्नी को एक ही मुहावरे में एक साथ लाना अनुचित है। इस पर दूसरा मुहावरा पेश किया गया—"मोटर न सवारी, करें मौज बनवारी।"

मंगलवार-समाज के साहित्यिकों को यह मुहावरा कुछ पसन्द आया। कइयों के सिर हिले और एक-दो ने 'वाह-वाह' की। मुहावरे में बनवारी शब्द खूब बैठा।

पास ही मेरे मित्र आनन्दकुमार बैठे थे। वे मेरी गाड़ी में दो-तीन बार गच्चे खा चुके थे। एक दिन उन्हें अपना दाँत निकलवाने कश्मीरी गेट जाना था। कुछ बजकर कुछ मिनट पर डेन्टिस्ट के पास पहुँचना था। ये लोग समय के बड़े पाबन्द होते हैं। आनन्दकुमार ने सोचा—कार में चलेंगे, नियत समय से दो मिनट पहले जा पहुँचेंगे तो डेन्टिस्ट पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। कश्मीरी गेट हम पहुँच तो गए, परन्तु समय से एक घंटा बाद, क्योंकि लाल किले से आगे गाड़ी को ढकेल कर ले जाना पड़ा। जो रुपया आनन्दकुमार ने डेन्टिस्ट के लिए जेब में रखा था उसकी हम दोनों ने प्रेमपूर्वक बंगाली मिठाई खा डाली। यह घटना आनन्दकुमार को अब भी याद थी। निजी अनुभव के बल पर अधिकारपूर्ण स्वरों में उन्होंने यह मुहावरा समाज के सामने रखा—"गाड़ी न टमटम, भर पेट मिले चमचम।"

ये सभी मुहावरे मैंने अपनी नोटबुक में लिख लिए। यह ठीक है कि इनमें कुछ नयापन-सा है और वह वजन नहीं जो 'गाय न बच्छी, नींद आवे अच्छी' में है। परन्तु बात बिलकुल सीधी है। मोटरों को

चले हुए वर्ष ही कितने हुए हैं ? आदिकाल में गाय-सम्बन्धी मुहावरा भी लोगों को जरूर नया लगा होगा। समय और प्रयोग से खटका आप ही मिट जाता है। मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि १९८० तक ऊपर लिखे गए तीनों मुहावरे प्रचलित हो चुके होंगे और बच्चों को स्कूलों में पढ़ाए जाया करेंगे।

यह तो बात रही मंगलवार-समाज की। अभी उस दिन की बात है कि मेरी कार से एक छोटी-सी दुर्घटना हो गई। करौलबाग में एक सड़क है जिसका नाम लिखना व्यर्थ है, क्योंकि अपनी-अपनी हैसियत और शिक्षा के अनुसार लोग उसे अलग-अलग नाम से पुकारते हैं। मैं इसी सड़क से होकर जा रहा था। मेरा ड्राइवर दाएँ हाथ को जो मुड़ा तो एकदम शोर मच गया। मालूम हुआ कि सड़क पर हरी सब्जी के टोकरे रखे थे और कार के पहिए उन टोकरों पर से शिला की तरह फिर गए थे। लौकी, टमाटर और कद्दू की जो शक्ल बनी वह देखने की चीज थी। ड्राइवर को तुरन्त लोगों ने पकड़ लिया। मैं गाड़ी से नीचे उतरा और यह समझते हुए कि मुसीबत साक्षात् खड़ी है, मैं दिल में हँसे बिना न रह सका। लाल-लाल टमाटरों के इधर-उधर बिखर जाने से सड़क की शोभा बढ़ गई थी। यह दृश्य देखते ही मुझे एकदम चौपड़ का खेल याद आ गया।

ड्राइवर कष्ट में था, इसलिए बहुत शांति और धैर्य के साथ मैंने लोगों को समझाना शुरू किया। सब्जीवाले को तसल्ली दी कि तेरा एक पैसे का भी नुकसान नहीं होने दिया जायगा। जेब से बटुआ निकालकर मैंने जनता जनार्दन का आदर करते हुए ललकारकर कहा कि इस सब्जी के दाम जो भी पंच ठहराएँ वह मैं देने को तैयार हूँ।

ड्राइवर को छोड़ सब लोग हिसाब में जुट गए। सोच-विचार के बाद सब्जीवाले ने मुझसे साढ़े तीन रुपए माँगे, जो मैंने एकदम उसके हाथ पर रख दिये।

मुझे यह देखकर अफसोस हुआ कि सब्जीवाले के तेवर अब भी चढ़े हुए थे। कुर्ते की जेब में रुपए डालते हुए वह कुछ बुड़बुड़ाने लगा। मैंने कहा—"बाबा, अब क्यों नाराज हो? क्या अब भी तुम घाटे में हो?" वह कुछ नहीं बोला, पर जब मैं गाड़ी में बैठ गया तब उसने बड़े जोर से चिल्लाकर कहा—"मोटर न माटर, रौंद डाले सारे टमाटर।"

यह सुनकर मजा आ गया। मैंने सोचा साढ़े तीन रुपए में यह मुहावरा बड़ा सस्ता रहा। साथ ही मुझे यह भी विश्वास हो गया कि अगर स्टूडीबेकर साल-दो-साल और मेरे पास रह गई, तो मुहावरों का बृहत् कोष तैयार हो जायगा।

सहज बुद्धि की परीक्षा

जीवन में अनुभव किसे कहते हैं यह वही जान सकता है जिसने आर्थिक, मानसिक और शारीरिक कष्टों के घटाटोप बादलों से टक्कर ली हो। ये कष्ट ऐसे नहीं जो प्रयोगशाला में मनचाहे ढंग से पैदा किये जा सकें। किसी भी अनाज की फसल की तरह इन्हें उगाने की भी एक रीति है। ठोस अनुभव के प्रेमियों और पारखियों से मेरा निवेदन है कि सैकिंडहैंड कार खरीदने से बढ़कर इस खेती में कोई चीज सहायक नहीं हो सकती। व्यर्थ के कष्टों से जूझने में आपको विश्वास या दिलचस्पी न हो, यह बात अलग है, परन्तु यदि आपके दिल में अनुभव के लिये जगह है और आप तपश्चर्या के सिद्धान्त को मानते हैं, तो आपको मेरी बात पर ध्यान देना होगा।

जब कोई आदमी पहली बार नई या पुरानी कार खरीदता है, तो वह इस आधुनिक यान के कल-पुर्जों से परिचित नहीं होता। इंजिनियरों या मोटर गराजों में काम करने वालों की बात और है, साधारण लोग प्रायः कार खरीदने के बाद ही उसकी भीतरी गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ ऐसे निश्चिंत लोग भी हो सकते हैं जो बहु-व्यस्तता की आड़ में कार में बैठना ही अपना कर्त्तव्य समझें और उसकी देखरेख और चालन का भार ड्राइवर के सुपुर्द कर देते हों। दुर्भाग्य से मेरा सम्बन्ध इसी श्रेणी के लोगों से है। मुझे कुछ वहम है कि कोई भी मशीन सम्बन्धी काम मेरे बस का नहीं। टाइप सीखने

बैठा तो महीने में कई दस्ते कागज खराब कर डाले पर मजाल है एक शब्द भी ठीक टाइप हुआ हो। पन्द्रह साल से रेडियो घर में है। उसके पुर्जों से जान-पहचान तो एक तरफ, उसकी सुई को ठीक से घुमाना मुझे आज तक नहीं आया। लोग न जाने कैसे सुई को इस तरह दौड़ाते हैं कि एक ही साँस में दिल्ली से हैदराबाद, लन्दन, तेहरान, सभी जगह की बात सुन लेते हैं। कार के पुर्जों से उलझने का तो मेरे लिये सवाल ही पैदा नहीं हुआ। ड्राइविंग सीखने की एक बार धुन सवार जरूर हुई थी, परन्तु दो-चार दुर्घटनाओं के बाद उससे भी मुँह मोड़ना पड़ा।

इस प्रकार निश्चिन्त या अलमस्त होने में भी कोई बुराई नहीं अगर किसी के पास असीम धन हो। मेरे साधन इतने सीमित हैं कि अगर हर कल-पुर्जा मेरे घर में ही बनने लगे और मान लीजिये पैट्रोल पड़ोस के कुँए से निकलने लगे, तब भी घर में विशेष बचत दिखाई नहीं देगी। इसलिये कार की खरीद मेरे लिये अगणित समस्याओं को निमंत्रण सिद्ध हुई। और इस पर भी सैकिंडहैंड कार, जो चलती कम और बोलती अधिक थी, वह भी इतनी बड़ी कि दिल्ली में बहुत-से घरों के बरामदे उसके आगे छोटे थे। वह पैट्रोल इतना पीती थी कि मित्रों ने उसे चौबेजी की उपाधि दे डाली थी। अगर उसमें तोड़फोड़ और मरम्मत पर कुछ भी खर्च न होता तब भी नकद १५० का वह महीने में पैट्रोल पी जाती थी। ऐसा सौभाग्य कहाँ कि हर पन्द्रह दिन के बाद उसकी मरम्मत न करानी पड़ती हो। इसलिये दो वर्ष तक मुझे कार पर औसत ३०० रु० मासिक खर्च करना पड़ा। कार खरीदने से पहले इस मद पर खर्च करने का जो मेरा अनुमान था यह व्यय उससे केवल चौगुना अधिक है।

अब काम चले तो कैसे ? कुछ महीनों के बाद ही इस गम्भीर समस्या पर विचार करने के लिये मुझे घर में एक छोटी-सी परामर्श समिति की स्थापना करनी पड़ी, जिसमें मेरी पत्नी और छोटा भाई सम्मिलित थे। पत्नी का बराबर यह आग्रह रहा कि कार के धोखे में मैं कबाड़ खरीद बैठा हूँ। उनका यह अनुरोध था कि मुफ्त में भी अगर कोई इसे लेने को तैयार हो जाय तो भी मैं घाटे में नहीं रहूँगा। उधर भाई का कहना था कि मुझे ड्राइविंग सीख लेना चाहिये। उसके बाद कार का खर्च आधा रह जायेगा और फिर सुख ही सुख है। उसने दस मित्रों के उदाहरण दिये जिन्हें कार खरीदने के बाद मेरी तरह ही गहरे पानी में बैठना पड़ा, परन्तु दृढ़ता और अध्यवसाय से वे सभी पार लग गये। परामर्श समिति के इन दोनों सदस्यों की युक्तियों को मैं बराबर तौलता रहा, परन्तु कभी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाया।

एक दिन निश्चय किया कि अगर एक गैलन में कार ११ मील चलती है तो क्या हुआ, हम उसे थोड़ा चलायेंगे। मेरे मित्र हनुमान-प्रसाद जिनकी कार एक गैलन में ३२ मील चलती है दिन भर खिलौने की तरह गाड़ी को घुमाते फिरते हैं, हम उनकी रीस नहीं करेंगे और स्टूडीबेकर में भारीपन का जो दोष है, उसे अपनी सहज बुद्धि से पूरा करेंगे।

मैंने फैसला किया कि पैट्रोल पर अब कड़ी निगरानी रखूँगा। पैट्रोल का हिसाब रखने के लिये एक नई नोटबुक खरीदी और उसी दिन १६ गैलन पैट्रोल डलवाया। उस समय मीटर ३४,६६७ पर था। यह नोट कर लिया गया। ११ मील प्रति गैलन के हिसाब से उस रकम में १७६ जोड़ दिये गये, अर्थात् अब

गाड़ी को तभी रुकना चाहिये जब मीटर ३४,८७३ पर पहुँच जाय। गाड़ी के इस्तैमाल में अब बहुत सतर्कता और किफायत की जाने लगी। दूसरों को गाड़ी देना तो मैं पहले ही बन्द कर चुका था, अब थोड़ा बहुत इधर-उधर जाने के लिये आप भी पैदल या बस में जाने लगा। एक बात का उल्लेख कर देना उचित होगा। जब अपनी गाड़ी घर में ठीक खड़ी हो उस समय बस में बैठने में बड़ा आनन्द है। बस में एक-दो मित्र ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जो यह जानते हैं कि आपके पास निजी कार है। वे ऊँचे स्वर में आपसे पूछने लगते हैं, "कहिये आज आप बस में कैसे। आपके पास तो अपनी गाड़ी है।" यह सुनते ही बस के सारे मुसाफिर आपकी तरफ देखने लगते हैं और बस की दुनिया में आपको आप ही आप एक विशेष स्थान प्राप्त हो जाता है। अगर आप बया के घोंसले की तरह लटक रहे हैं तो आदर-पूर्वक आपको खड़े होने का स्थान मिल जाता है और यदि आप खड़े हैं तो आग्रहपूर्वक कोई न कोई सज्जन आपको अपनी जगह बिठा देते हैं।

मुझे यह विश्वास हो गया है कि सभी प्रकार की तपस्या, बलिदान, सेवा और सात्विकता—ये तभी फल देती हैं जब इसके पीछे ठोस सुनहरी पृष्ठभूमि हो। यहाँ बरनार्ड शा की एक बात याद आ गई। इस प्रतिभाशाली लेखक से किसी ने पूछा कि साधारण मजदूर और नेता में क्या अन्तर है। शा ने तुरन्त उत्तर दिया : "मजदूर वह है जो पेट भरने के लिये मजूरी करता है और कभी-कभी दिल बहलावे के लिए रईसी ठाठ कर लेता है। नेता वह है जो सदा ही रईसी ठाठ से रहता है परन्तु दिल बहलावे के लिये कभी-कभी कुदाली या फावड़े को हाथ में उठा लेता है।" इसी तरह जिसके पास निजी

कार है वह पैदल घूमता हुआ या बस में धक्के खाता हुआ भी कुछ न कुछ श्रेय ले मरता है ।

हाँ, तो मैं अब मीटर पर बराबर निगाह रखने लगा । पेट्रोल डलवाने के पाँच दिन बाद ही गाड़ी चलते-चलते यकायक रुक गई । सदा की भाँति ड्राइवर ने छोटे-मोटे सभी बटन दबाये और कलों को मरोड़ा और पाँच मिनट के अनुसन्धान के बाद इंजिन पर आँखें गड़ाते हुए बड़े भोलेपन से कहा : "साहेब, पेट्रोल खतम हो गया है ।" मैं भौंचक्का रह गया । सिगरेट सुलगाने जा रहा था, जी में आया कि सिगरेट के बजाय दियासलाई कार में लगा दूँ । जेब से नोटबुक निकाली । पाँच दिन में हमने ४० मील नहीं तो ५० मील गाड़ी चलाई होगी । १६ गैलन में क्या यह ५० मील ही चली । यह सोचते हुए मैंने मीटर पर नजर डाली । इसके अनुसार अब तक हम कुल ४० मील ही चले थे । मुझे हिसाब में उलझा देख ड्राइवर ने कहा कि मीटर तीन दिन से बिगड़ा है और तब से एक ही अंक पर रुका है । यह सुनते ही मेरा पहला विचार यह हुआ कि सूर्यास्त होने से पहले-पहले स्टूडीबेकर को किसी धर्मार्थ संस्था को दान कर दिया जाय । अपनी बेबसी पर मुझे आप तरस आने लगा । मैंने सोचा फिर भी ड्राइवर से पूछा तो जाय कि १६ गैलन में गाड़ी कितनी चली है । ठोड़ी से दाएँ हाथ की उँगली को दबाते हुए घोर विचार में चेतसिंह ने उत्तर दिया : "मेरे खयाल में गाड़ी सौ मील से कुछ ऊपर चली होगी ।" "लानत है इस गाड़ी को," मैंने झुँझला कर कहा : "इसे आज ही गराज में बन्द कर दो और गराज को ताला लगा कर चाबी कुएँ में फेंक दो । ऐसी गाड़ी से मैं बाज आया जो तेल पीती ही नहीं बल्कि सड़पती है ।"

एक गैलन पैट्रोल इधर-उधर से ले किसी प्रकार मैं घर लौटा। एक अनुभवी मित्र से बात की तो उसने मुझे बहुत डाँटा। उसने सारी गलती मेरी ही बताई। वह बोला : "तुम आप सतर्कता से काम क्यों नहीं लेते। तुम्हारी सहज बुद्धि को क्या हो गया। सीधी-सी बात है, अगर पैट्रोल को अपने काबू में रखो तो किसी प्रकार का झंझट ही न हो। गाड़ी में पम्प से कभी पैट्रोल मत डलवाओ। दो-दो गैलन के टिन खरीद लो। आप ही उनका हिसाब रखो और अपने हाथ से गाड़ी में डालो। माना कि तुम्हारी कार मालगाड़ी जितनी भारी है, फिर भी एक गैलन में १२ मील से कम नहीं चलेगी।"

कमाल हो गया। महीने भर से सचमुच १२ मील के हिसाब से गाड़ी चल रही है। दो-दो गैलन के टिन खरीदता हूँ और अपने हाथ से कार में पैट्रोल डालता हूँ। मीटर से कभी बात नहीं करता। अब ड्राइवर भी तीर की तरह सीधा है। पूर्वजों ने सच कहा है यदि बुद्धि से काम लिया जाय तो बहुत-सी मुश्किलें आप ही आप हल हो जाती हैं। तुलसीदास जी भी कह गये हैं:

"जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना"। इस परीक्षा में सफल होना अत्यन्त आवश्यक है, नहीं तो घर की बिल्लियाँ भालू बन जायेंगी और पड़ोस के कुत्ते तेंदुए का रूप धारण कर लेंगे।

कार न रखने के लाभ

कार से छुटकारा पा चुकने के बाद अब मैं इस निश्चित मत का हूँ कि कार से जो सुख मिलता है उसकी अपेक्षा कार न रखने के लाभ कहीं अधिक हैं। कहने में यह बात भले विचित्र लगती हो, परन्तु विचार और तर्क की कसौटी पर ठीक उतरेगी। सभी शहरों में कार न रखने के उतने ही लाभ हैं जितने दिल्ली में, यह कहना कठिन है। कम से कम दिल्ली के बारे में मैं निजी अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि कार का न होना बहुत बड़ा वरदान है। इस बात को वही समझ सकता है जिसने दिल्ली की सड़कों पर कुछ दिन अपनी कार दौड़ाई हो और जिसे बाद में बिना कार निर्वाह करने का अभ्यास हो गया हो।

कार न रखने का सबसे बड़ा लाभ तो यही है कि आप कुछ रखने के झंझट से छूट जाते हैं। बिल्ली, कुत्ता, तोता, मैना, आप कुछ भी रखें झंझट तो होता ही है। साधारणतः जितना झंझट होना चाहिये दिल्ली में उससे दुगुना होता है। फिर जब आप-ही-आप चलने वाली कार जैसी चीज़ रखी जाय तो स्थिति ओखली में सिर देने के बराबर है। ओखली में कोई अपना सिर क्यों कुटवाये? सीधी-सी बात है कि ओखली से दूर रहना सिर की रक्षा करना है। मतलब यह कि कार न रखना झंझट से दूर रहना और ओखली और मूसल की दृष्टि से बचे रहना है। यह कोई छोटा-मोटा लाभ नहीं। दिल्ली जैसी जगह में

जहाँ सभी प्राणी मूसल लिये घूमते दिखाई देते हैं एक महान मूसल-धारी दानव से सुरक्षा वरदान नहीं तो और क्या है।

आप मोटर रखेंगे तो उसके साथ ही दो-चार चीजें और भी लेनी पड़ेंगी, जैसे घड़ी, बटुआ, बरसाती, इत्यादि। घड़ी इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक मोटरिस्ट समय का पाबन्द होना पसन्द करता है। वह घड़ी देखकर चलता है, दो-चार मिनट भी आगे-पीछे कहीं पहुँचना नहीं चाहता। अगर वह ठीक समय पर नहीं पहुँच पाता तो उसमें और बस से चलने वालों में अन्तर ही क्या रहा। अगर उसे पाँच मील जाना हो तो वह इसी में शान समझता है कि गन्तव्य स्थान पर पहुँ-चने के लिये दस मिनट का समय रखे। समय का यह बारीक हिसाब-किताब तभी तो सम्भव है जब घड़ी पास हो।

बटुवे की आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। जब कार से कहीं जाना हो तो गाड़ी में पैट्रोल हो या न हो, बटुवे में कुछ होना जरूरी है। रुपया-पैसा रखने के लिये बटुवा इसलिये भी आवश्यक है कि सभी मोटरिस्ट रूमाल की तरह सामने की जेब में बटुवा रखते हैं। बटुवा पास हो और किसी का हिसाब चुकाना हो तो थोड़ा पैसा देने से भी काम चल जायेगा। हिसाब के चलते रहने में ही सुविधा रहती है।

बरसाती इसलिए आवश्यक है कि एक मोटरिस्ट जो मूसलाधार वर्षा में भी बिना भीगे इधर-उधर घूमता है किसी भी प्रकार का ज़ोखिम कैसे उठा सकता है। कार से निकल कर अन्दर जाने तक वह भीग सकता है। अगर चार कदम चलते समय कपड़ों पर पानी पड़ गया तो कई मील तक सूखे चले आने का क्या महत्व रहा? इसीलिये सभी मोटरिस्ट अच्छी-से-अच्छी बरसाती साथ लेकर चलते हैं। पैदल चलने

वाले और कल के घोड़े की सवारी करने वाले बरसाती न रखें, बरसात के दिनों में मोटरिस्ट बरसाती साथ लिये रखे बिना घर से बाहर नहीं निकलता। इसी प्रकार अच्छा धूप का चश्मा, सर्दियों में सुन्दर दस्ताने आदि, कई चीजें हैं जो अपनी या कार की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये मोटरिस्ट को खरीदनी पड़ती हैं। अगर आप मोटर ही नहीं रखेंगे तो इन चीजों की चिन्ता क्यों करने लगे। यह कितनी बड़ी बचत है!

और सुनिये। दिल्ली में सभी को घड़ी देखकर बात करने की बीमारी है। प्रत्येक व्यक्ति समयानुसार काम करने का प्रयत्न भी करता है। परन्तु समय पर न पहुँचना बहुत बुरा नहीं समझा जाता। एक तो दिल्ली बहुत बड़ा नगर है जिसमें लम्बे-लम्बे फासले हैं। दूसरे यहाँ की बसों और सवारी के दूसरे साधनों का व्यक्ति विशेष के प्रारब्ध से सम्बन्ध है। किसी जगह समय पर पहुँचने के लिये यदि आप बस पर निर्भर रहें तो किस्मत बहुत अच्छी होने पर ही पहुँच सकेंगे। इसलिये कहीं देर से पहुँचना या न पहुँचना क्षम्य माना जाता है। परन्तु यदि आपके पास अपनी कार है तो न पहुँचने का या देर से पहुँचने का बहाना ढूँढना आसान न होगा। कार के खरीदते ही मैं इस कारण बहुत चकल्लस में फँस गया। जब देखो कहीं-न-कहीं पहुँच रहा हूँ। मेरी नोटबुक में उन दिनों इतने समय लिखे जाते कि वह गणित की किताब बन गई थी। जिस बेहूदगी के आगे मैं बोलने का साहस न कर सका ईश्वर की दया से मेरी कार ने उस पर करारी चोट की। वह इतना अधिक बिगड़ी रहने लगी और अपनी चालढाल में इतनी मनमानी हो गई कि घड़ी ही नहीं पंचांग तक उससे घबराने लगे। तुरन्त मित्रों ने मुझे क्षम्य लोगों की श्रेणी में शामिल कर लिया। मैं

बड़े आराम से जब मर्जी जहाँ पहुँचने लगा। कार बेच देने के बाद मित्रों द्वारा दी गई इस खुली छूट की पुष्टि हो गई। अब मैं बहुत बड़े झंझट से बच गया हूँ। जहाँ पहले मुझे ऐसा लगता था मानो किसी ने नाक में नकेल डाल रखी है और कोई मुझे कहीं घसीटे लिये जा रहा है, अब मैं बिलकुल स्वच्छंद हूँ। जब जी करता है कहीं जाता हूँ और जब कहीं समय पर नहीं पहुँच पाता लोग आप ही आप दिल्ली की बसों को कोसने लगते हैं। मुझ पर बहुत कम लोग सन्देह करते हैं। यह भी मोटर न रखने की ही बरकत है।

मोटर न रखने से आर्थिक अवस्था अथवा दुर्दशा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके बारे में अधिक कहने की जरूरत नहीं। दिल्ली का वातावरण ऐसा है कि वहाँ बिना कार के आदमी उड़ सकता है। कार रखने वाले का तो कहना ही क्या। उसे अधिकतर आकाश में विचरना पड़ता है। भूमि और लौकिकता उसे नहीं अपनाते। ऐसी स्थिति को दुर्दशा ही कहा जा सकता है। कार न होने से कम से कम भूमि पर पाँव टिकने की संभावना हो जाती है। राजधानी में यही बहुत कुछ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि दिल्ली के अधिकांश कार रखने वाले मेरी इस बात से सहमत होंगे।

अप्सरा

खाना खाने के बाद शाम को टहलने की आदत संतोष-कुमार को वर्षों से है। वह प्रायः कहा करता है कि यदि सोने से पहले रात को एक-दो मील घूम लिया जाय, तो शरीर में कभी कोई विकार पैदा नहीं होता। नींद अच्छी आती है, दिन भर की थकान दूर हो जाती है और पेट सदा ठीक रहता है। उसके मित्र जानते हैं कि रात की सैर सन्तोषकुमार की दिनचर्या का एक आवश्यक अंग है।

रोजमर्रा की तरह उस दिन भी सन्तोष रात को घूम-फिर कर घर लौट रहा था। खूब अच्छा मौसम था, जैसा फाल्गुन में होना चाहिए। सन्तोष को उस रात अकेले ही घूमने जाना पड़ा, क्योंकि उसकी पत्नी संगीत समाज में गई हुई थीं। उन्हें दस बजे के करीब घर आना था। दस बजने में थोड़ी ही देर थी, इसलिये सन्तोष जल्दी-जल्दी कदम उठा रहा था। घर पहुँचने के लिये वह हारडिंज ऐविन्यू से सिकन्द्रा रोड की तरफ मुड़ा ही था कि बिजली के खम्भे से हट कर एक पेड़ के नीचे खड़ी एक महिला ने धीमे स्वर में उससे कुछ पूछा। सन्तोष एक दम चौंका। जब दृष्टि महिला पर पड़ी, वह सहम गया। महिला सिर से पाँव तक श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थी। सफेद जाली के दुपट्टे में उसका मुँह कुछ ढका हुआ था। जैसे ही सन्तोष की आँखें उसकी आकृति पर पड़ीं, वह आप ही आप विह्वल-सा हो उठा। उसने पूछा: "कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

बहुत पतली आवाज में महिला ने कहा : "मैं इर्विन कालेज में पढ़ती हूँ। यहाँ आज एक उत्सव था। मुझे बहुत देर हो गई है। कोई सवारी मिलती दिखाई नहीं देती। क्या आप हेली रोड तक मुझे छोड़ सकते हैं ?"

सन्तोष ने इसे सौभाग्य की पराकाष्ठा समझा। हर्षातिरेक के कारण उसके मुँह से कुछ न निकला। वह चुपचाप उस महिला के साथ हो लिया। उसे कुछ पता न था कि वह कहाँ जा रहा है, किसके साथ है और क्यों जा रहा है। महिला को देख कर वह अपनी सुधबुध भुला चुका था। उसका मस्तिष्क सोचने से जवाब दे चुका था। हाँ, मन काम करता था, परन्तु वह उसके पास न था। मन को वह अज्ञात हमराही के सुपुर्द कर चुका था। चलते-चलते बारहखंबा रोड आ गई। सन्तोष को सहसा ध्यान आया कि हेली रोड आने ही वाली है। यहाँ पहुँचते ही वह फिर अकेला रह जायगा। उसने सोचा, चलो कोई बात नहीं, घर का पता लग जावेगा और बाद में मिलना-जुलना हो सकेगा।

थोड़ा-सा सँभल, बेहोशी की दुनिया से निकल, विचार-जगत में उसने पदार्पण किया ही था कि हेली रोड के मोड़ पर वह महिला एकदम रुक गई और बोली : "बस, मैं अब चली जाऊँगी। बहुत आभारी हूँ। कष्ट के लिए क्षमा चाहती हूँ। नमस्ते।"

सन्तोषकुमार के पाँव तले की ज़मीन निकल गई। एक क्षण के लिए तो उसे ऐसा लगा कि उसकी टाँगें जवाब दे रही हैं और वह धम से नीचे गिर पड़ेगा। परन्तु असाधारण संयम से काम लेते हुए वह चुपचाप खड़ा रहा। महिला को निहारते हुए आप ही आप उसके हाथ जुड़ गए और उसके मुँह से निकल गया—"नमस्ते।" वह सोच

ही रहा था कि अब क्या कहे और अज्ञात साथी का परिचय पूछे कि उसका ध्यान अपनी ठोड़ी से टपकते हुए पसीने की ओर गया। जेब से रुमाल निकाल उसने अपना मुँह पोंछा। जब आँखें खोलीं और रुमाल जेब में डाला तो देखा कि महिला छुईमुई हो गई थी। वह सारे हेलीरोड पर घूम गया, पर कुछ दिखाई नहीं दिया। बहुत परेशान हुआ। कभी अपने सौभाग्य पर अपने आपको बधाई देता, कभी सोचता उसे कोई महिला नहीं मिली, यह उसका भ्रम मात्र था। सहसा उसे अपने पर क्रोध आ गया और अपने आपको सम्बोधित करके वह बोला : "तू भी निरा गधा है। तू इतनी दूर उस महिला के साथ उसे छोड़ने आया। तुझसे इतना भी नहीं हुआ कि उसका नाम तक पूछ लेता।" क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गईं और उसने चाहा कि अपने मुँह पर जोर से तमाचा मारे।

इसी तरह हँसते और रोते वह बाबर रोड पर अपने घर आ गया। अब साढ़े ग्यारह बजे थे। घर पहुँचते ही पत्नी ने डाँटना शुरू किया : "क्यों जी, यह सैर करने का समय है? मैं जानती हूँ आप सिनेमा गए होंगे। जब मैं संगीत-समाज जाने लगी थी, तब कह देते कि सिनेमा जाना है। झूठ बोलने की क्या जरूरत थी?"

सन्तोष ने सब कुछ शान्ति से सुना। उसने कोई जवाब नहीं दिया। कपड़े बदल कर और हाथ-मुँह धोकर वह चुपचाप बरामदे में आकर चारपाई पर लेट गया। चादर से अपने आपको ढाँप उसने सोने की चेष्टा की। तीन मील की सैर के बाद भी नींद कहीं नाम को न थी। वह बराबर कुछ से कुछ सोचता रहा। एक-एक करके उस अज्ञात महिला के वस्त्रों को गिनने लगा। जाली का सफेद दुपट्टा, महीन पौप-

लीन का सफेद जम्पर, साटिन की सफेद सल्वार और सफेद साबर की ही सैंडिल और इस पर बादलों में छिपे चाँद-सा झलकता गोरा मुखड़ा, जिस पर काली अलकें नृत्य कर रही थीं। काली अलकों के बारे में केवल उसका अनुमान था, क्योंकि वह अँधेरे में मुँह ठीक से नहीं देख पाया था। सोचते-सोचते उसे फिर क्रोध आया। उसने सोचा मैं उसे गौर से नहीं देख पाया! अगर वह वेष-भूषा बदलकर फिर मेरे सामने आये तो सम्भव है मैं उसे पहचान भी न पाऊँ। इसमें दोष किसका है? वह भली महिला तो मेरे साथ १५-२० मिनट रही। मैंने ध्यान-पूर्वक उसे क्यों नहीं देखा?

यह सोचते-सोचते सन्तोष फिर अपने आपको धिक्कारने लगा। और जब यह खयाल आया कि शायद अब उससे कभी मिलना ही न हो, क्योंकि उसका अता-पता सन्तोष को कुछ भी मालूम नहीं था, तो रोष से उसका शरीर काँप उठा। उसका हृदय धड़कने लगा। चादर से मुँह बाहर निकाल कर देखा, श्रीमती जी सोयी पड़ी थीं। पानी के दो घूँट पी सन्तोष फिर लेट गया। अब वह अपने आपको सान्त्वना देने लगा और इस घटना को भुलाने का यत्न करने लगा। उसने सोचा यह एक स्वप्न था। उसे वास्तव में विश्वास हो गया कि उसने स्वप्न में एक अप्सरा देखी थी। इसी मानसिक उथल-पुथल के बीच सन्तोष की आँख लग गई।

× × × ×

अगले दिन सवेरे जब सन्तोष उठा तो उसके हाव-भाव ही बदले थे। पत्नी के बार-बार पूछने पर भी वह कुछ न कह सका। सिर दर्द का बहाना करके ही वह पीछा छुड़ा सका। दिन तो किसी तरह बीत

गया। शाम को खाना खाने के बाद जब सैर का समय आया तो उसका शरीर फिर फूलने लगा। उसने सोचा कौन जाने, आज फिर अप्सरा के दर्शन हो जायें। यद्यपि पत्नी साथ होंगी, फिर भी दर्शन मात्र से कुछ तो धैर्य बँधेगा। यथापूर्व इण्डिया गेट तक जाकर पति-पत्नी वापस हो लिये। सिकन्द्रा रोड के मोड़ पर सन्तोष पल भर के लिए रुका। कभी दायें देखता, कभी बायें, कहीं कोई प्राणी दिखाई नहीं दिया। चुपचाप दोनों घर लौट आये।

इसी प्रकार व्यथित हृदय ने छः दिन बिताये। एक दिन जब सन्तोष दफ्तर से लौटा तो उसकी पत्नी ने कुछ सहेलियों के साथ सिनेमा जाने की अनुमति माँगी जो सन्तोष ने सहर्ष दे दी। पत्नी को खाना भी बाहर ही खाना था। कुछ थोड़ा बहुत खाकर सन्तोष पहले तो बिस्तर पर लेट गया। सोचा यह रात की सैर भी बुरी चीज है। न यह लत होती और न अप्सरा ने जीवन हराम किया होता। पर फिर कुछ बेचैनी-सी हुई। एकदम छड़ी उठा इंडिया गेट की तरफ चल दिया। पाँच-दस मिनट वहाँ बैठ वापस हो लिया। वह अप्सरा से मिलने की आशा त्याग चुका था। किन्तु सिकन्द्रा रोड को देखते ही फिर उसकी याद आ गई और दिल में कसक-सी उठी। दायीं तरफ जब नजर डाली तो देखता क्या है कि पेड़ के नीचे सफेद कपड़ों में लिपटी वही अप्सरा खड़ी है। सन्तोष पर जैसे सकता-सा छा गया। न उससे आगे चलते बना, न पीछे मुड़ते। पत्थर की मूर्ति की तरह वह वहीं गड़ गया। फिर उसी स्वर में अप्सरा ने पूछा : "कोई सवारी मिलती दिखाई नहीं देती। क्या आप मुझे हेली रोड तक पहुँचा सकते हैं?"

सन्तोष बोला—"क्यों नहीं, आठ दिन बाद तो आपके दर्शन हुए हैं। एक बार पहले भी आपको हेली रोड तक पहुँचाने का सौभाग्य मुझको प्राप्त हुआ था।"

दोनों हेली रोड की तरफ चल दिये। सन्तोष महिला की तरफ आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगा। वही चाल-ढाल, वही वेष-भूषा और वही रंग-रूप रेशम में लिपटा-सा, छिपा-सा। उसे भय लगने लगा कि वह किसी भूत-प्रेत के साथ तो नहीं जा रहा है। ऐसा अपूर्व सौन्दर्य पृथ्वी पर कहीं मिल सकता है? सहसा उसने अपनी विचारधारा को रोका और चुपके से अपनी आँख उठा हिम्मत करके झिझकता-सा बोला—'आज मैं आपका पता पूछ कर ही रहूँगा। धृष्टता के लिए क्षमा चाहता हूँ; किन्तु क्या मैं कह सकता हूँ कि जिस दिन से मैंने आपको देखा है, मेरी सुध-बुध ही खो गई है। कम से कम परिचय प्राप्त करने का अधिकारी तो हूँ ही।"

यह प्रश्न सुन कर महिला कुछ देर चुप रही। जब हेली रोड का मोड़ आ गया, पहले की तरह वह खड़ी हो गई और बोली—"बस, अब आप कष्ट न कीजिए। मेरा नाम वनिता है और मैं कुछ नहीं कह सकती। यदि आप चाहें तो मुझे पत्र लिख सकते हैं। मेरा पता है—पोस्ट बौक्स नंबर ११०। नमस्ते।"

संतोष कुमार की उँगली दाँतों में ही रह गई और अप्सरा आन की आन में आँखों से ओझल हो गई। पहले तो उसने चाहा कि वह चुपके से उसके पीछे-पीछे जाय; परन्तु सन्तोष जैसे शरीफ आदमी को यह बात अनुचित लगी। इसलिए दो-चार निश्वास छोड़ कर छड़ी से जमीन को पीटता हुआ बेचारा बाबर रोड पर वापस आ गया। आज

वह दिल में खुश था। एक तो इसलिए कि अप्सरा का नाम और पता मिल गया। अब पत्र-व्यवहार हो सकेगा। दूसरे इसे भी उसने अपना सौभाग्य समझा कि उसकी पत्नी सिनेमा गई हुई थीं और वह अकेला था। आज उसने पहले जैसी बेचैनी अनुभव नहीं की।

घर पहुँचते ही कपड़े बदल सन्तोष चारपाई पर जा लेटा। कुछ देर के बाद श्रीमती जी भी सिनेमा से लौट आईं। औपचारिकता के नाते सन्तोष ने केवल इतना पूछा कि चित्र कैसा था? उसने यह भी नहीं सुना कि पत्नी ने क्या जवाब दिया। सहसा उसकी आँख लग गई। अब सन्तोष साधारण मनुष्य का-सा व्यवहार करने लगा। पत्नी को यह देख कर बहुत सन्तोष हुआ कि पतिदेव के स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार हो गया है।

कई दिन तक खिन्न और उदास रहने के बाद सन्तोष कुमार को जीवन से फिर अनुराग हो गया। जो परिस्थिति उसे पहले निराशापूर्ण और भयावह जान पड़ती थी, वही अब रसपूर्ण दिखाई पड़ने लगी। शरीर की चंचलता और मन की उमंग फिर वापस आ गई। हाँ, हृदय की उद्विग्नता अब भी पहले जैसी भी, बल्कि कुछ बढ़ गई थी।

अप्सरा को दूसरी बार मिले उसे दो दिन हो चुके थे। पाँच बजे के बाद सन्तोष दफ्तर में ही ठहरा रहा। आज उसका इरादा अप्सरा के नाम एक पत्र लिखने का था। एक कागज निकाल कर कुछ लिखने बैठा। जो लिखता, फिर उसमें संशोधन करता। चार-पाँच कागज खराब करने के बाद उसने दस पंक्तियाँ लिखीं। फिर लिफाफे पर पता लिखा। पत्र को तह किया और उसे लिफाफे में डाल दिया। लिफाफा बंद करने ही जा रहा था कि पत्र को निकाल कर फिर पढ़ने लगा।

एक बार मन ही मन में पढ़ा। कमरे में कोई और तो था ही नहीं, इसलिए एक बार बोल कर पढ़ा, जैसे किसी को सुना रहा हो। उसने लिखा था—

"प्रिय वनिता जी,

आपसे मिले दो दिन हुए, परन्तु मुझे ऐसा लग रहा है मानो अपने किसी प्रिय से महीनों से नहीं मिला हूँ। जब मैं यह सोचता हूँ कि आपसे किस प्रकार अचानक भेंट हुई और किस प्रकार दर्शन मात्र से ही मैं आसक्त हो गया, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि मेरा और आपका पूर्वजन्म का संबंध होगा। रतिनाथ के बाणों की साहित्य में चर्चा सुनी थी, किन्तु स्वयं उनका शिकार बनने का अवसर नहीं मिला था। आपकी कृपा से अब वह भी मिल गया। कमाल की बात यह है कि मैं आपको ठीक से देख भी नहीं पाया हूँ। अचानक किसी और जगह मिलने पर शायद आपको पहचान भी न सकूँ। मेरा खयाल है, आप भी मुझे नहीं पहचान सकेंगी। कुछ भी हो, वास्तविकता यह है, कि आपके दर्शनों के लिए मैं दिन-रात लालायित रहता हूँ। यदि कल फिर वहीं और उसी समय मिल सकें, तो आपकी अपार कृपा होगी।

कृपाकांक्षी,

सन्तोष"

घर लौटते समय सन्तोष ने यह पत्र डाक में डाल दिया। उसे विश्वास था कि अगले दिन सैर से लौटते समय अप्सरा से फिर भेंट होगी। उसने निश्चय किया कि वह उसका परिचय अपनी पत्नी से करायेगा। तभी तो घर में आना-जाना हो सकेगा। उस दिन शाम को सन्तोष बड़े चाव से सैर करने गया। लौटते समय ज्यों-ज्यों सिकन्द्रा

रोड नजदीक आ रही थी, सन्तोष के हृदय की धड़कन बढ़ रही थी। सिकन्द्रा रोड का मोड़ आ गया। बूट के तस्मे बाँधने के बहाने वह वहाँ पल भर रुका; परन्तु चारों ओर सन्नाटा था। कोई प्राणी दिखाई नहीं दिया। सन्तोष बहुत हताश हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा कि किसी ने उसके पाँवों से पत्थर बाँध दिये हैं। मुश्किल से कदम आगे उठता था। किसी प्रकार गिरता-पड़ता वह घर पहुँचा। उसे अप्सरा से यह आशा बिलकुल नहीं थी। निराशा ने क्रोध को स्थान दिया। फिर विवेक ने कहा—"इतने गर्म होने की क्या बात है? हो सकता है कि अप्सरा को तुम्हारा पत्र न मिला हो। यह भी हो सकता है कि पत्र मिल गया हो और वह किसी अत्यन्त आवश्यक काम से रुक गई हो।"

इसी मानसिक द्वन्द्व के बीच सन्तोष पलंग पर जा लेटा और सो गया।

अगले दिन जब सन्तोष दफ्तर पहुँचा तो उसकी मेज पर एक पत्र पड़ा था। नीले रंग का सुन्दर लिफाफा। उसने झट से उसे खोला। सुन्दर कागज पर केवल तीन पंक्तियाँ अंग्रेजी टाइप में छपी थीं। एक शब्द भी हाथ से नहीं लिखा था। पत्र का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार था—

प्रिय श्री सन्तोषकुमार,

आपका पत्र मिला। खेद है, आज आपसे नहीं मिल सकूँगी। मैं इतनी स्वतन्त्र नहीं, जितनी शायद आप समझते हैं। मुझे भय है कि पूर्व निश्चित योजना के अनुसार हम कभी न मिल सकेंगे। यदा-कदा जब भी अवसर मिलेगा, मैं आप ही आपको उसी स्थान पर और उसी

समय मिल जाऊँगी।

—वनिता"

इन थोड़े से शब्दों को पढ़कर ही सन्तोष मुग्ध हो गया। बार-बार पत्र पढ़ता। पहले जी में आया कि पत्र को फाड़ दे। फिर सोचा, नहीं, यह एक अमूल्य वस्तु है, इसलिये संग्रहणीय है। और फिर यह सोच कर कि हो सकता है पत्र कभी गुम हो जाय, उसने नोटबुक में उसकी नकल उतार ली।

सन्तोष ने पत्र इतनी बार पढ़ा कि वह कण्ठस्थ हो गया। थोड़ी देर बाद ही जब रोमांच समाप्त हुआ और मन की गति साधारण हुई उसने पत्र का भावार्थ समझने का यत्न किया। असन्तोष के सिवा उसे और कुछ न मिला। यह तो बड़ी विचित्र बात है, कि अप्सरा जब चाहेगी, मिलेगी। हमारी इच्छा का मूल्य ही कुछ नहीं। इस प्रकार कब तक निभ सकती है? फिर मन ने कहा: "क्यों पड़ते हो इस पचड़े में। यदि वह नहीं मिलना चाहती तो तुम भी न उससे मिलो, कोई मजबूर तो तुम्हें करता नहीं? लेकिन यदि अप्सरा के दर्शनों के बिना नहीं रह सकते तो तुम्हें झक मार कर उसी की शर्तों पर उससे मिलना पड़ेगा।

इस विचित्र मनःस्थिति से छुटकारा पाने के लिए उसने पत्र का उत्तर लिखना शुरू किया। इस बार पहले ही यत्न में वह अच्छा पत्र लिख गया।

"प्रिय वनिता जी,

आपके पत्र के लिये आभारी हूँ। आपके दर्शनों के लिये और पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये मैं बहुत बेचैन हूँ। कह नहीं सकता

कि कल जब आप नहीं मिलीं, कितनी निराशा हुई। भगवान के लिये सब कुछ अपनी ही इच्छा पर न छोड़िये। इस मामले में अधिक नहीं तो थोड़ा दखल मेरी इच्छा को भी दीजिये। मेरी प्रार्थना है कि आप आगामी रविवार को अपने बन्धुओं समेत मेरे घर पधारें। मैं २१०, बाबर रोड पर रहता हूँ। उस दिन हमारे यहाँ ही चाय पान करें। बहुत अनुग्रह होगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि रविवार से पहिले आप मिले ही नहीं। मैं प्रति दिन सैर करने जाता हूँ। जब कभी भी अवकाश मिले, अवश्य दर्शन दें।

कृपाकांक्षी,

सन्तोष"

यह पत्र बुधवार को लिखा गया। शनिवार तक सन्तोष को इसका उत्तर न मिला और न ही इन दिनों अप्सरा से भेंट हुई। उसका दिल बहुत दुखी था, परन्तु उसे दृढ़ विश्वास होता जा रहा था कि रविवार को जब वनिता घर पर आयेगी तो सदा के लिये अनिश्चितता का अन्त हो जायगा। इसलिये वह रविवार की राह देखने लगा।

आखिर रविवार का दिन भी आ पहुँचा। संतोष ने अभी तक आमंत्रित मेहमानों के सम्बन्ध में अपनी पत्नी से कुछ नहीं कहा था। वह बराबर इसी सोच में डूबा था कि पत्नी से बात कैसे शुरू करे और क्या कहे? यह भी ठीक नहीं कि एक-दो भाई-बहिनों के साथ वनिता आ जाय और पत्नी को पता तक न हो। बातचीत से पत्नी को यह तो पता लग ही जायगा कि मैंने उन्हें चार दिन से आमंत्रित किया हुआ है। ऐसी स्थिति में मेरी चुप्पी एक रहस्य बन जायगी, जिससे व्यर्थ की पेचीदगियाँ पैदा होंगी। अच्छा, पत्नी को सूचना देनी ही है तो क्या

कह कर दी जाय। बेचारा संतोष इसी चक्कर में पड़ा था और उसकी स्थिति किंकर्तव्यविमूढ़ की सी थी। वह सोच में डूबा हुआ था। दोनों हाथों से उसने अपना सिर थाम रखा था। तभी पीछे से पत्नी आई और पति के एक हाथ को सिर से अलग करके बोली: "देखिये मैं राजपुर रोड जा रही हूँ। बहिन ने कहा था कि आज कानपुर से मामाजी आ रहे हैं। आठ-नौ बजे तक वापस लौट आऊँगी। ठीक तो यह है कि आप भी मेरे साथ चलें, वर्ना जैसी आपकी इच्छा।"

संतोष चौंका। जो थोड़ा-बहुत विचार उसने किया था, पत्नी की बात से सब साफ हो गया। अब बिलकुल नई स्थिति पैदा हो गई। क्षण भर के लिए तो उसने पत्नी की बात का स्वागत किया, परन्तु ऐसा कह तो नहीं सकता था। सिर ऊपर उठा और पत्नी की तरफ देख उसने कहा—"यह क्या जुल्म कर रही हो तुम? मेरा तो विचार कुछ मित्रों को चाय पर बुलाने का है। तुम चली जाओगी तो कैसे काम चलेगा?"

सरल स्वभाव से पत्नी ने उत्तर दिया, "आज रहने दीजिये, अगले रविवार को जिसे चाहें बुला लें। और अगर आप मित्रों को चाय के लिए कह चुके हैं, तो शिवसिंह चाय बना देगा। मेरा राजपुर जाना तो आवश्यक है। मामाजी केवल एक दिन के लिए आ रहे हैं और अगले ही महीने वे दो साल के लिए अमेरिका चले जायँगे। फिर न जाने उनसे कब मिलना होगा।"

सन्तोष का दिमाग वैसे ही चकराया हुआ था, उसकी समझ में नहीं आया कि अब कौन-सा तेवर बदले? कुछ और न सूझा तो नाराज ही हो गया। बोला—"तुम भी कमाल करती हो। मामा अमेरिका जा

रहे हैं तो क्या गजब हो गया ? उन्हें भी अपने यहाँ बुलवा लेते हैं। मामा-चाचा के फेर में पड़कर अपने घर का काम चौपट नहीं किया करते। अगर तुम ऐसा करने लगीं, तो हमारे हिस्से में एक भी छुट्टी नहीं आयेगी। ईश्वर की दया से मामा भी तुम्हारे दो दर्जन से ऊपर हैं। नहीं, तुम्हारा आज जाना ठीक नहीं।"

यह बेतुका उत्तर सुन कर पत्नी क्रोध से तिलमिला उठी—'आपको आज हो क्या गया है जो इतनी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं ? विवाह का यह मतलब तो नहीं कि मैं अपने सब प्रियजनों को तिलांजलि दे दूँ ? साल भर हुआ, जब से शादी हुई है, सब रिश्तेदारों से मिलना-जुलना छूट गया। आज जाने को कहा तो आपसे ऐसी उल्टी-सीधी बातें सुनने को मिलीं, यदि मैं आपके रिश्तेदारों के सम्बन्ध में ऐसा कहूँ, तो आपको कैसा लगे ? क्षमा कीजियेगा, मैं अवश्य जाऊँगी, मित्रों को चाय चाहे आप घर में पिलायें, चाहे होटल में।"

पत्नी ने पति के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। स्टोर में जाकर कपड़े बदलने शुरू कर दिये। थोड़ी देर में ही तैयार होकर नौकर से ताँगा मँगा वे राजपुर रोड चली गईं। सन्तोष सब-कुछ देखता रहा। वह कुछ नहीं कह सका। वह निश्चय नहीं कर सका था कि पत्नी का बाहर चले जाना ठीक है, या घर पर रहना। भगवान पर भरोसा रख वह चुप बैठा रहा। जब पत्नी चली गई और वह अकेला रह गया तब उसने मुँह पर हाथ फेरा और उसे चाय की तैयारी करने की सूझी। घड़ी में देखा, पूरे तीन बजे थे।

बड़े चाव से घर की सफाई की गई। मेजपोश और कुर्सियों की गद्दियों के गिलाफ बदले गये और बरामदे में बड़ी मेज पर चाय का

सामान सजाया गया। नौकर को साइकिल पर भेज कर बाजार से मिठाई और पेस्ट्री मँगा ली गई। इसी धुन में ५ बज गये। अब सन्तोष के लिए एक-एक पल भारी हो गया। बार-बार घड़ी देखता और थोड़ी-थोड़ी देर के लिये सड़क पर जाता। आखिर एक ताँगा उसके घर के सामने रुका, जिससे एक पुरुष और एक महिला उतरीं। संतोष गोली की तरह भाग कर उनके पास गया। पुरुष को वह कुछ-कुछ पहचानता था, परन्तु महिला को उसने पहले कभी नहीं देखा था। आदर-सत्कार से उनको अन्दर ला बिठाया। नौकर को आवाज़ दी कि चाय लाये। आगंतुक महाशय ने कहा कि वे चाय पीकर आये हैं। सन्तोष को हैरानी हुई। दबी निगाह से उसने महिला की तरफ देखा। उनके इन्कार करने पर भी सन्तोष ने तीनों के लिए चाय बना दी। उसके दिल में तरह-तरह की शंकायें उठ रही थीं, जिनका वह समाधान करना चाहता था।

आगन्तुक ने अपना नाम बताया और परिचय दिया—"मुझे मदनमोहन कहते हैं। ये मेरी छोटी बहिन हैं। हम लोग आपके छोटे भाई सुरेश को देखने आये थे। उनके रिश्ते के सम्बन्ध में आपके पिताजी से बातचीत चल रही है।"

रहस्य और गहरा हो गया। सन्तोष की उलझनें बढ़ती गईं। मदनमोहन जी ने अपनी बहिन का नाम नहीं बताया। संतोष स्वयं कैसे पूछे? उसने यों ही शिक्षा की चर्चा छेड़ दी। बोला—"वैसे तो दिल्ली में महिलाओं के कई कालिज हैं, पर साहब! कालिजों में कालिज तो लेडी इर्विन कालिज है। यहाँ वह शिक्षा मिलती है, जिसका जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।"

"जी हाँ !" मदनमोहन बोले,—"मैं आपसे सहमत हूँ। हमने तो उपमा को इसीलिये लेडी इर्विन कालेज में दाखिल कराया है........।"

बात काटते हुए सन्तोष से पूछा—"उपमा जी कौन हैं?"

मदनमोहन—"ये जो आपके साथ चाय पी रही हैं।"

जो मिट्टी का घर अभी तक सन्तोष ने खड़ा किया था, वह उपमा नाम सुनते ही एकदम ढह गया। परन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी। सोचा, हो सकता है, इनका घर का नाम वनिता हो। बहुत से लोगों के दो नाम होते हैं। बात को बदल कर अब वह दूसरी तरफ ले गया और दिल्ली के मकानों की तंगी का किस्सा छेड़ दिया। "दिल्ली में ठिकाने का मकान मिल जाय तो ऐसा है मानो कल्पतरु हाथ आ गया। मकान तो बहुतेरे हैं, सवाल बस्ती का है। ईश्वर की दया से बाबर रोड बुरी बस्ती नहीं। मदनमोहन जी, आप किधर रहते हैं?"

मदनमोहन—"मैं तो गदर के जमाने के एक बँगले में अलीपुर रोड पर रहता हूँ। मकान बुरा नहीं, बस्ती भी अच्छी है, परन्तु उसी के लिए, जिसको सरकार से पेंशन मिलती हो और बाहर निकलने का काम न पड़ता हो।"

अब सन्तोष को विश्वास हो गया कि असली मेहमान अभी नहीं पहुँचे। घपले में उसकी चाय और लोग ही उड़ा रहे थे। मदनमोहन जी ने सुरेश के बारे में फिर पूछा। सन्तोष ने बता दिया कि वह तो आठ दिन से मंसूरी गया हुआ है, और अगले महीने लौटेगा। यह सुनते ही मदनमोहन जी की दिलचस्पी खतम हो गई, और उधर उन्होंने जाने की आज्ञा माँगी। सन्तोष का भी उनसे विशेष लगाव नहीं रह गया था। उन्हें सड़क तक छोड़ कर वह फिर चाय की मेज पर

आ बैठा और आकाश से उर्वशी के उतरने की राह देखने लगा।

सात बजे तक कोई नहीं पहुँचा। आखिर चाय उठवा दी गई। सन्तोष को बेचैनी ने फिर आ घेरा। मन ही मन वह कुढ़ने लगा। कभी पत्नी पर क्रोध करता, कभी अपने पर। उस दिन वह बिना कुछ खाये-पिये ही आठ बजे सैर को निकल गया। इंडिया गेट की घास पर चहलकदमी के बाद ६ बजे वापस हो लिया।

सिकन्द्रा रोड का मोड़ मुड़ने से पहले ही सन्तोष ने बिजली के हलके प्रकाश में देखा कि वही अप्सरा एक पेड़ के नीचे खड़ी है। उसे देखते ही वह दिन भर की यातना भूल गया। उसके पास जाते ही उसने नमस्ते की। अप्सरा ने नमस्ते का उत्तर दिया। फिर यथापूर्व दोनों चल दिये। सन्तोष ने जैसे उलाहना देते हुए कहा—"वनिता जी, मैं तो दिन भर आपका इन्तजार करता रहा। मुझे पूरा विश्वास था कि आप पाँच बजे चाय के लिए आयेंगी। क्या आपको मेरा पत्र मिला था? मिला हो या न मिला हो, मैं कुछ नहीं जानता। अब तो आपको मेरे घर चलना होगा और वहीं खाना खाना होगा। फिर मैं आपको हेली रोड छोड़ आऊँगा।"

सन्तोष को खयाल आया कि अप्सरा आज बिलकुल चुप है। सारी बोलचाल एकतरफा है। अपने घर जाने के प्रस्ताव को उसने फिर दुहराया। अप्सरा ने उत्तर में केवल दो शब्द कहे,—"अच्छा चलिए।"

सन्तोष अब शिकवा-शिकायत एकदम भूल गया। आवेश में धन्यवाद कहना भी भूल गया। अब वह लपक कर चलने लगा। बाबर रोड तो पास ही थी, पन्द्रह मिनट में ही घर आ पहुँचा।

नौकर ने बाहर कुर्सियाँ निकाली हुई थीं। एक कुर्सी को आगे

बढ़ा कर सन्तोष ने कहा—"आइये, बिराजिए।" वह स्वयं अन्दर नौकर को खाने के लिए कहने चला गया। ड्रेसिंग रूम की तरफ जो निगाह गई, देखा पत्नी के कपड़े टँगे हुए हैं।

यह सोच कर कि श्रीमती जी वापस आ गई हैं, सन्तोष ने नौकर से पूछा कि बीबी जी कहाँ हैं? उसने जवाब दिया—"वे तो आपके जाने के थोड़ी देर बाद ही आ गईं थीं। अभी कहीं बाहर गईं हैं।"

सन्तोष बड़ा हैरान हुआ। उसे मालूम नहीं था कि श्रीमती जी अकेली भी रात को सैर करने चली जाती हैं। घर में मेहमान था, इसलिए कुछ बोलना उचित नहीं समझा। बाहर आते समय सन्तोष ने बरामदे की और बाहर के आँगन की बत्ती जला दी। उसने सोचा, आज अप्सरा को जी भर कर देखूँगा। पास वाली कुर्सी पर बैठते ही आँखें फाड़ कर अप्सरा की तरफ देखा। एक पल भी न देख पाया था कि सहसा उसकी आँखें बन्द हो गईं और उसकी चीख निकल गई। अप्सरा का हाथ पकड़ते हुए उसने कहा,—"सरोज!"

जो अज्ञात महिला अप्सरा के रूप में सन्तोष को मिलती रही, वह उसकी अपनी पत्नी सरोज ही थी और वह विजय की भावना से मुस्कराती हुई कह रही थी, "रोज डींगें मारा करते थे, 'सरोज, आज तक तुम्हारे बिना मैंने न किसी से प्रेम किया है और न कभी करूँगा।' वाह रे पुरुष!"

अनाड़ी शिकारी—१

बाल्यावस्था से ही मुझे देहरादून और गढ़वाल की पहाड़ियों से स्नेह रहा है। इस पहाड़ी प्रदेश में मेरे लिए आकर्षण का विषय पहाड़ों या पर्वतीय नगरों की अपेक्षा यहाँ के जंगल अधिक हैं। मैं अनेक बार हरिद्वार से देहरादून फारेस्ट रोड से होकर गया हूँ। इस यात्रा में मुझे जो आनन्द आया उसकी तुलना मैं मसूरी, शिमला आदि रमणीक स्थानों में वास से कभी नहीं कर पाया। गत आठ वर्षों से प्रायः नियम-पूर्वक मैं प्रति वर्ष इस प्रदेश में घूमा हूँ किन्तु जो अनुभव और आनन्द मुझे गत दिसम्बर के भ्रमण में प्राप्त हुए वे पहले कभी नसीब नहीं हुए थे।

गत अक्तूबर में मेरे पास मेरे अभिन्न मित्र अनीस साहिब का पत्र आया कि वे गोरखपुर से बदल कर देहरादून आ गये हैं। श्री अनीस फारेस्ट विभाग के उच्चाधिकारी हैं। वे जानते हैं कि मुझे जंगलों में भ्रमण का बहुत शौक है। उन्होंने मुझे आमंत्रित किया और दो सप्ताह का अच्छा रोचक कार्यक्रम बनाने का वचन दिया। मैंने तुरन्त ही छुट्टी आदि का प्रबन्ध करना शुरू किया। यह तय पाया कि मैं १५ दिसम्बर को देहरादून पहुँच जाऊँगा और फिर कुछ और मित्रों को साथ लेकर हम इधर-उधर घूमेंगे।

दिसम्बर का महीना आ पहुँचा। मैं वचनानुसार १५ को अनीस साहिब के विशाल बँगले पर जा उतरा। पूछने पर पता चला कि अनीस साहिब ने शिकार का प्रोग्राम बना रखा है। मैं जंगलों में घूमने को इतना उत्सुक था कि अहिंसावादी होते हुए भी इस प्रस्ताव पर कोई

आपत्ति न उठा सका। दो दिन देहरादून में ही बीते। इस बीच में हम दोनों के पुराने मित्र श्री धूम बहादुर से भी भेंट हुई। वे वन्य-अनुसन्धानशाला में ही कुछ करते हैं—यह हमने उनसे नहीं पूछा कि वे वहाँ विद्यार्थी हैं या अध्यापक या अनुसन्धानकर्त्ता। श्री बहादुर ने भी हमारे साथ जाने का इरादा प्रकट किया। वे सिद्धहस्त निशानची हैं। हमने सोचा चलो यह भी अच्छा हुआ एक अनुभवी शिकारी भी साथ रहेगा, और भले-बुरे समय हमारी और अपनी रक्षा कर सकेगा। सब आवश्यक सामग्री जुटा ली गई और १८ दिसम्बर को कोई १० बजे हम तीनों जंगल के रास्ते देहरादून से नैनीताल के लिए रवाना हो गये। अनीस, बहादुर और मैं एक स्टेशन वैगन (बन्द कार) में थे और पीछे एक भारी ट्रक था, जिसमें हमारा सामान और पाँच पहाड़ी कुली थे। कुल मिलाकर हमारे पास चार बन्दूकें थीं और बहुत से कारतूस।

देहरादून से चलकर फारेस्ट रोड से हम डोइवाला पहुँचे। यहाँ आध घंटा ठहरे। १२ बजे के लगभग यहाँ से चलकर कोई २ बजे खसरैला पहुँचे। यह स्थान फारेस्ट रेंज का हैडक्वार्टर है और यहाँ रेंजर का दफ्तर है जिसमें १० व्यक्ति काम करते हैं। एक सुन्दर बँगला अफ़सरों के ठहरने के लिए बना है। हम सीधे इस बँगले पर जा उतरे और चाय बनाई जाने लगी। खसरैला रेंज फारेस्ट रोड की एक तरफ है और इसी सड़क की दूसरी ओर टेहरी गढ़वाल के जंगल हैं। यह स्थान बहुत ऊँचाई पर स्थित नहीं, किन्तु फिर भी बहुत सुन्दर है। चारों ओर शान्ति है, हरियावल है और साल के घने जंगल हैं। पर्वत-श्रेणियों के बीच कहीं-कहीं एक-दो घर दिखाई देते हैं। पास दो सुन्दर निर्झर हैं। पीने के पानी का यही एकमात्र साधन है। कहीं-कहीं खेत भी

दिखाई देते हैं जिनमें ईख अथवा गेहूँ के पौदे उगे हैं।

घंटा भर इधर-उधर भटक कर हम लोग डाक बँगले में वापस आ गये और चाय पर डट गये। पेट खाली था, जो कुछ हाथ लगा मिनटों में साफ कर गये। ठीक ४॥ बजे खसरैला से चलकर हम लोग ६ के कुछ बाद मोतीचूर रेंज में आ पहुँचे और वहाँ के डाक बँगले में पड़ाव किया। कार्यक्रम के अनुसार हमें यहाँ रात भर रहना था। अँधेरा हो चला था। ऊँचे वृक्ष और पहाड़ मानों सूर्य को समय से पहले ही छिप जाने पर बाध्य कर रहे थे। इधर-उधर चिराग टिमटिमाने लगे। सब के संशय दूर हुए और हम सबने रात्रि के अविकल रूप का अवलोकन किया। यों तो रात्रि का सभी प्राणी स्वागत करते हैं, परन्तु एक थके माँदे पथिक और यात्री के लिए इस विश्राम घड़ी का विशेष महत्व है। पथिक दिन भर के सफर के बाद रात्रि के समय निश्चिन्त भाव से बैठता है और गन्तव्य स्थान के बारे में कुछ सोचने लगता है। शारीरिक थकान उसके मस्तिष्क को प्रेरित करती है और वह नाना प्रकार के सुखद स्वप्न देखता है। यात्री भी रात्रि का स्वागत करता है। वातावरण की निस्तब्धता और व्यापक अंधकार उसके लिए भी एक सुअवसर है। इस मधुर एकान्त में उसे अपना इष्ट देव और देवालय विशेष आकर्षक जान पड़ते हैं। वह सोचता है यह कैसी विचित्र बात है कि मनुष्य सदा यात्रा नहीं करता रहता और इस अलौकिक सुख में ही डूबा नहीं रहता। कुछ देर में उसकी गुत्थी सुलझ जाती है और विस्मय के लक्षण विलुप्त हो जाते हैं। अपने ही प्रश्न का वह आप उत्तर पा लेता है और यह समझ कर सन्तोष कर लेता है कि आखिर यह जीवन यात्रा ही तो है।

अनाड़ी शिकारी—२

मोतीचूर से हरिद्वार पाँच मील रह जाता है। इस रेंज में लकड़ी की चिराई का काम जोरों से चल रहा था। जंगल में जगह-जगह आराकशों के दल काम कर रहे थे और सब ओर से सां-सां का शब्द आ रहा था। हमें बतलाया गया कि इस रेंज में ८०० आराकश और ६०० अन्य कर्मी काम पर लगे हैं। आराकशों के डेरे को देख लेने के बाद हम लोग डाक बँगले में वापस आ गये।

एक घंटे तक खाना तैयार हो गया। खाने के बाद अनीस साहिब ने अपने जंगल के अनुभव बताने शुरू किये। वे बोले : "अरे भाई, यह भी कोई जंगल है। दिया लेकर ढूँढो तब कहीं हाथी, शेर आदि जानवर मिलते हैं। मैं तो बरसों नैपाल की घनी तराई के जंगलों में घूमा हूँ जहाँ शेर ऐसे दिखाई पड़ते हैं जैसे देहरादून की सड़कों पर मिलिटरी की गाड़ियाँ। आप जरा असावधान हुए नहीं कि शेर आपके ऊपर लपका नहीं। पिछले साल बुटवल से दो मील ऊपर घने जंगल में मैं अपने रेंजर के साथ पेड़ों को देख रहा था। घूमते-फिरते हमें साँझ हो गई। रेंजर ने आग्रह किया कि देर हो रही है, हमें जल्दी बँगले पर लौट जाना चाहिए। मैंने उदासीन भाव से कहा अभी चलते हैं कोई रास्ता रोके तो नहीं बैठा। धीरे-धीरे पत्थरों पर से कूदते-फाँदते हम बँगले की ओर रवाना हुए। कुछ-कुछ अँधेरा हो चला था। हम थोड़ी दूर ही गये थे कि पगडण्डी पर एक हाथी दिखाई दिया। हमें देखते ही

हाथी ने हमारा पीछा करना शुरू किया। रेंजर बेचारा बहुत घबराया। वह स्वयं तो बहुत चतुर था, पर उसे मेरी चिन्ता थी। एक तरफ भागते हुए वह बोला, 'साहिब, खड़े न हों। जहाँ पेड़ बहुत घने हों वहाँ भाग जाइये। हाथी मुझे घने जंगल में कभी नहीं पकड़ पाया।'

"रेंजर का यह परामर्श रूपी आदेश मुझे बहुत बुरा लगा और मैं दिल ही दिल में उसे कोसने लगा। कैसा अहमक है यह आदमी, इसने मुझे पहले क्यों नहीं बताया कि इस टुकड़े में हाथी हैं। मैं भागा जा रहा था और हाथी मेरा पीछा कर रहा था। पेड़ बहुत घने उगे थे, इस-लिए वे हाथी के रास्ते में रुकावट बन गये थे। नहीं तो वह दो मिनट में ही मुझे आ दबोचता।"

"यह भयानक आँखमिचौनी आधे घंटे तक होती रही। मैं बिल-कुल थक गया था। रास्ता भूल गया और अब जीवन से निराश-सा हो चला था। इतने में ही मुझे रेंजर की आवाज़ सुनाई दी 'साहब, दायें हाथ वाले टीले पर चढ़ जाइए। जब तक हाथी ऊपर पहुँचेगा हम दोनों बँगले में होंगे। मैं टीले की दूसरी ओर आपको मिलूँगा।'

"यह सुनते ही मैं टीले की ओर भागा। हाथी मेरी चाल समझ गया और अपनी विवशता के कारण चिंघाड़ने लगा। सारा जंगल गूँज उठा। मैं टीले की चोटी पर पहुँचा ही था कि 'साहब, साहब', की पुकार सुनाई दी। रेंजर मुझे बुला रहा था। मैं भागा और फिर रेंजर ने मेरा हाथ पकड़ा और हम दोनों ऐसे दौड़े कि बँगले में आ कर ही साँस लिया।"

अलिफ लैला से भी अधिक रोचक कहानी सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये। बहादुर ने भी कहा, "वाह अनीस साहब, आपने तो बहुत दुनियाँ

देखी है। आपकी बदौलत हम लोग भी कुछ देख पावें तब जानें।" आगामी दो दिन के बाद हमें पता लगा कि बहादुर महाशय की यह आकांक्षा कैसी मनहूस निकली। ऐसी दुनियाँ देखी कि जान के लाले पड़ गये। न जाने किस का लिया दिया सामने आ गया और हम लोग जीवित वापस आ सके।

घड़ी में ११ बजे थे। मैं जल्दी सो जाने का आदी हूँ। मित्रों से आज्ञा लेकर मैं जाकर लेट गया और अनीस तथा बहादुर भी अपने-अपने बिस्तरों पर आ गए। शीघ्र ही सब लोग सो गए।

अगले दिन, प्रोग्राम के अनुसार, १० बजे सब लोग तैयार हो गए और हरिद्वार के लिये प्रस्थान किया। यहाँ मुझे दिन भर ठहरना था। चार-पाँच घंटे हम लोग खूब घूमे। कुछ खाने-पीने का सामान खरीदा और ठीक चार बजे वहाँ से चल दिये। गङ्गा पार से लैंसडाउन शुरू होता है। गङ्गा में एक-दो स्थानों पर जहाँ पानी था अस्थायी पुल बँधे थे। गङ्गा पार करके फिर फारेस्ट रोड से ही हमने अपनी निश्चित यात्रा आरम्भ की। अनीस साहब ने बताया कि हमारे लिए कोटद्वार में शिकार का प्रबन्ध किया गया है। फारेस्ट रोड के रास्ते यह गङ्गा से कोई ४० मील दूर है। हमने सोचा कि सात बजे तक वहाँ पहुँच जायँगे और अगले दिन रात को शेर का शिकार करेंगे। किन्तु विधि रास्ते में रोड़े अटका रही थी।

पाँच ही मील गये थे कि चिल्ला रेंज आ गया और यहाँ हमें एक और पुराने मित्र मिल गये। ये थे श्री त्रिवेदी जो क्रिसमस की छुट्टियों में मनोरंजन के लिये चिल्ला के डाक बँगले में ठहरे हुए थे। बहुत इन्कार करने पर भी उन्होंने हमें एक घंटा रोके रखा। उन्होंने बहुत

कहा कि यह सड़क खतरनाक है, रात को सफर करना यहाँ ठीक नहीं। मैं भी इससे कुछ-कुछ सहमत था। मगर मेरे साथ जो दो जवान थे वे कब मानने वाले थे। वे बोले—"अमां' पागल हो गये हो, डेढ़ घण्टे का कुल रास्ता है और फिर सब तरह का सामान हमारे पास है।"

हम चिल्ला से चल पड़े। यह जंगल घना तो है ही, बहुत भयानक भी है। फारेस्ट रोड कई पहाड़ी नदियों के बीच से होकर जाती है। सड़क के दोनों ओर ऊँची-ऊँची चट्टानें और घने जंगल हैं। इनके कारण प्रायः दिन में भी सड़क पर अँधेरा रहता है। स्टेशन वैगन अनीस साहब स्वयं चला रहे थे। हम लोग बातों में व्यस्त थे। कार अच्छी रफ्तार से चल रही थी। अनीस साहब ने एकदम ब्रेक लगा दिये और कार रुक गई। ट्रक भी रुक गया। क्या देखते हैं कि कोई १०० गज के फासले पर कई एक हाथी सड़क पर खड़े बाँस की पत्तियाँ खा रहे हैं। अनीस का खयाल था कि दो-चार मिनट में हाथी स्वयं सड़क छोड़कर चले जायँगे। पर ऐसा नहीं हुआ। हाथियों ने हमारी गाड़ियों को देखा और एक पंक्ति बाँध कर हमारी ओर चल दिये। हम सब के होश उड़ गये। अनीस को शायद बुटवल की घटना याद आ गई। उन्होंने कुलियों को ट्रक से नीचे उतरने को कहा और कठिनाई का हल पूछा जाने लगा।

मैं टकटकी बाँधे हाथियों को देख रहा था। उस दिन पहली बार मैंने जंगली हाथी देखा। जंगली हाथी पालतू हाथी से उतना ही बड़ा और ऊँचा होता है, जितना घोड़ा खच्चर से। हाथियों के शरीर चिकने पत्थर की भाँति चमक रहे थे। झुर्री कहीं नाम को न थी। मैं भयभीत तो था ही, मुझे इन जीवों से कुछ प्रेम भी होने लगा। दिल चाहता था कि इन सात हाथियों में से किसी एक के ऊपर जा बैठूँ।

अनाड़ी शिकारी—३

हाथियों की पंक्ति हम लोगों से मुश्किल से ५० कदम पर थी और वे स्वर-ताल से झूमते हुए हमारी ओर बढ़े आ रहे थे। हमारे दिलों पर क्या बीत रही होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अनीस, बहादुर और मैं एक-दूसरे की ओर देखते और एक शब्द भी किसी के मुँह से न निकलता। बहादुर एकदम चिल्ला उठे और सुब-कियाँ लेकर रोने लगे। मेरी आँखें तर हो गईं और मुझे जेब से रुमाल निकालना पड़ा; किन्तु अनीस पत्थर की मूर्ति की भाँति बैठे रहे। अचानक उन्होंने कार का दरवाजा खोला और हमारी ओर संकेत करते हुए बोले : "आप साहिबान ट्रक पर चढ़ जाइये।" हमने तुरन्त इस आदेश का पालन किया। अनीस ने उसी दम कुलियों से इशारों में कुछ बात की। कुली लोगों ने आन की आन में बहुत-सी सूखी घास तोड़कर उसे दियासलाई दिखला दी। प्रत्येक कुली जलती हुई घास को हाथ में लेकर शोर मचाने लगा। घास को वे हाथों में नचा रहे थे, मानों हाथियों की आरती उतार रहे हों। उसी समय कार और ट्रक स्टार्ट कर दिये गये। भयंकर शोर मचने लगा। एकदम हाथियों में खलबली मच गई। वे भयभीत होकर एक-दूसरे से टकरा गये और बुरी तरह से सड़क छोड़ कर भागे। भागते हुए वे दर्जनों वृक्षों को तोड़ते-कुचलते और तहस-नहस करते गये।

अब क्या था, सब के मुँह पर फिर से लाली आ गई। बहादुर ट्रक

से कूद पड़ा और अनीस को दोनों भुजाओं में लेते हुए बोला : "वाह यार, खूब बाजी मारी। हम तो जीवन से ही हाथ धो बैठे थे। अमां, अच्छे शिकार को निकले। पता होता कि हाथियों से पाला पड़ेगा तो आने से पहले टूटी हुई बीमा-पालिसियों को तो चालू करा आते। मेरी तो सभी पालिसियाँ रद्दी हो गई हैं।'

धीरे-धीरे सब लोग एक जगह आ गये और एक-दूसरे को बधाई देने लगे। मैं दिल ही दिल में सोच रहा था कि हाथी भी विचित्र जानवर है। बन्दूक से नहीं मरता, तलवार से काबू में नहीं आता, परन्तु साधारण से शोर और टिमटिमाती आग के आगे नहीं ठहर सकता। मनुष्य की बुद्धि के आगे सचमुच किसी की पेश नहीं चलती। मैं यह सोच ही रहा था कि मुझे नवीन जी की प्रसिद्ध कविता 'कस्त्वं कोऽहम्' के कुछ पद याद आ गये। कवि ने ठीक ही कहा है—

मैंने अपने हाथों से,
पाहन युग में वन विजय किया।
निर्माण किया, विध्वंस किया,
जग को सुख-दुःख नय-अनय दिया॥
दुर्दान्त वन्य पशुओं को भी,
मैंने गृह-पोषित दान्त किया।
वल्गा, अंकुश, नाथों के बल,
दुर्दमनीयों को शान्त किया॥

अब रात सिर पर आ रही थी, जल्दी ही चलना ठीक था। हम लोग दुर्घटनास्थल से ३० मील की रफ्तार से रवाना हो गये। कोई १५ मील की यात्रा के बाद रिवासन नदी को पार किया। नदी के

समीप दूसरे रेंज का हैडक्वार्टर है। रेंज का नाम लालढाँग है। हम लोग थके-माँदे और बहुत घबराये हुए थे। थोड़ी-सी बहस के बाद ही यह तै पाया कि लालढाँग के डाक बँगले में ही रात भर ठहरा जाय और अगले दिन सवेरे कोटद्वार जाया जाय। बँगले पर पहुँचते ही पता चला कि स्थानीय डिप्टी कलेक्टर भी शिकार के लिए आये हुए हैं और वहाँ ही उतरे हैं। मिलते ही सब एक-दूसरे से परिचित हो गये। डिप्टी साहब उसी रात को शिकार खेलने ऊपर (बँगले से दो मील) जा रहे थे। खाना खा लेने के बाद उन्होंने आग्रह किया कि हम लोग भी उनके साथ चलें। अनीस ऐसा नहीं चाहते थे, यद्यपि मेरी और बहादुर की यह हार्दिक इच्छा थी कि इनके साथ मिलकर ही हम भी शिकार खेलें। बहुत मिन्नत, खुशामद के बाद अनीस ने हमें अनुमति दे दी—पर इस शर्त पर कि वे हमारे साथ नहीं जायेंगे और पीछे बँगले पर ही ठहरेंगे।

ग्यारह बजे फारेस्ट गार्ड शिकारियों को बुलाने आ गया। सब ने अपनी-अपनी बन्दूकें सँभाल लीं और वे रुमाल से या पुरानी बनियान से साफ की जाने लगीं। थोड़ा ही देर में हम बँगले से निकल पड़े। आगे-आगे हाथ में लालटेन लिये फारेस्ट गार्ड था। उसके पीछे मैं था, मेरे पीछे बहादुर और सबसे पीछे डिप्टी साहब और उनके मित्र ठाकुर साहिब थे। ये दोनों सज्जन सिद्धहस्त निशानेबाज और अनुभवी शिकारी थे। वे दोनों सिगरेट पर सिगरेट पीते जाते थे। मैं और बहादुर फारेस्ट गार्ड से बातें करते जा रहे थे। गार्ड ६० वर्ष का नाटे कद का, गठे हुए हुए शरीर का गढ़वाली था। उसका जीवन ही जंगल में बीता था। जंगलात की नौकरी करते-करते उसे ३५ वर्ष हो चुके थे।

उसने बताया कि इस जंगल में लगभग चालीस शेर हैं। यह सुनकर हम घबरा उठे। "चालीस, थोड़े न बहुत", मैंने कहा। "यह तो ठीक नहीं। हमें इस जंगल में शिकार के लिए नहीं आना चाहिये था।"

"बस घबरा गये साहब", गार्ड बोला। "शिकार करते समय भय को तो पास न आने दीजिये। आखिर आप शेर को मारने चले हैं, कोई दंगल देखने थोड़े जा रहे हैं। आपके पास बन्दूकें हैं और सब प्रकार का सामान है, और उधर शेर बेचारा तो अकेला होगा। आप सब तैयारी करके आये हैं, शेर तो स्वच्छन्द गति से विचरता हुआ ही आपको दिखाई देगा। मैंने बिना अस्त्र के दो शेर मारे हैं। बात सारी साहस की है।"

फारेस्ट गार्ड की बातें मुझे तीर की तरह चुभ रही थीं। न जाने क्यों मुझे कुछ ऐसा आभास होने लगा कि हम फिर मौत के मुँह में जा रहे हैं। मैंने बहादुर के कान में कहा:—"हम भी कैसे मूर्ख हैं। मुश्किल से चार घंटे हुए जान बची थी, फिर शेर से लोहा लेने यहाँ आ पहुँचे। वहाँ तो अनीस की सूझबूझ ने हमें बचा लिया था, यहाँ कौन बचायेगा?"

मैं बोल ही रहा था कि गार्ड एकदम ठहर गया और बोला—"खामोश, शेर जा रहा है। वह है हमारा मचान। चुपचाप उस पर एक-एक करके चढ़ जाइये।"

अनाड़ी शिकारी—४

जैसे-तैसे हम लोग मचान पर जा चढ़े और उस सनसनीपूर्ण वेला की प्रतीक्षा करने लगे जब शेर हमारे सामने आयेगा और हम उसे गोली का निशाना बनावेंगे। कल्पना की दौड़ यहाँ ही समाप्त हुई। हम उस दृश्य की भी कल्पना करने लगे, जब एक सात फुट लम्बा मृत सिंह हमारे चरणों में पड़ा होगा और हम लोग अपनी बन्दूकों के सहारे थके-से खड़े होंगे, मानो २० मील पैदल चलकर आये हैं। मेरे और बहादुर के मुख पर कभी भय के लक्षण दिखाई देते और कभी हम साक्षात् वीर रस की प्रतिमा जान पड़ते।

उधर ठाकुर साहब डिप्टी साहब को सन्तोष का पाठ पढ़ा रहे थे। असल में शिकार ठाकुर साहब के आग्रह पर ही हो रहा था। वे अपने मित्र डिप्टी साहब की कृपाओं के ऋण से उऋण होना चाहते थे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि डिप्टी साहब से ही शेर मरवाया जायगा। वे उन्हें समझा रहे थे कि शेर बहुत उद्दण्ड आत्माभिमानी होता है। हमला होते ही वह क्रोध से अन्धा हो जाता है और उसकी शक्ति प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। ठाकुर साहब की बातें ऐसी जान पड़ती थीं जैसे कोई हितोपदेश का हिन्दी रूपान्तर सुना रहा हो। डिप्टी साहब भी आनन्द से हिलोरें ले रहे थे और शेर मारने पर तुले हुए थे।

कोई दो घंटे खाली बैठे रहने के बाद हमें दूर से दो चमकती हुई

आँखें दिखायी दीं। फारेस्ट गार्ड बोला —"लो शिकार आ गया, अब आप लोग बन्दूकों में गोली आदि भर लो।" गोली भर ली गई और सब लोग उन चमकती हुई आँखों की ओर टिकटिकी बाँध कर निहारने लगे। आँखें धीरे-धीरे मचान की ओर बढ़ती गईं। जब वे मचान से १० फुट के करीब आ गईं तो, शिकार एकदम एक वृक्ष के नीचे बँधे भैंसे पर लपका। यह भैंसा शेर को हमारी ही भेंट थी। ज्यों ही शेर भैंसे पर लपका, ठाकुर साहब जोर से बोले—"सब लोग तैयार रहें, मगर गोली अभी न चले। डिप्टी साहब, निशाना साधिये, देखते क्या हैं, शिकार आपके सामने है। इसकी मृत्यु अवश्य ही आप के हाथ होनी है। गोली ऐन छाती के बीच लगे। आपकी गोली लगने के बाद शिकार को मैं आप सँभाल लूँगा।"

पर डिप्टी साहब के हाथ न जाने क्यों काँपने लगे और उनकी साँस फूलती जा रही थी। उन्होंने बड़ी अनुनय-विनय की और ठाकुर साहब से कहा कि वे स्वयं ही गोली मारें ताकि शेर मचान पर हमला न कर सके। वे बोले—"अजी ठाकुर साहब आप ही के बस की बात है यह तो। आप ही निशाना लगावें, मुझे तो भय-सा लगने लगा है। मैं और वे दोनों सज्जन (मेरी और बहादुर की ओर संकेत करके) तो तमाशबीनों से बढ़ कर नहीं। यह तमाशा पल भर में ही संकट बन सकता है। कृपा करके आप ही इस संकट से हमें निकालें।"

मैं और बहादुर इस कथानक से तंग आ गये थे। मैंने बहादुर से कहा कि वे किसी की पर्वाह न करके तुरन्त ताक कर निशाना लगावें। बहादुर ने ऐसा ही किया। उधर ठाकुर साहब और डिप्टी साहब झगड़ रहे थे और इधर बहादुर ने दन से गोली छोड़ दी। गोली शायद शेर की

एक टाँग को छू ही सकी। गोली खाते ही शेर ने असली विराट् रूप धारण किया। भैंसे को छोड़ वह मचान की ओर दौड़ा। हम सब को मचान पर बैठे देख उसने पूरे जोर से छलाँग लगाई। वह मचान से भी कई फुट ऊँचा कूद गया, मगर हमारा सौभाग्य था कि वह मचान से तीन-चार फुट एक तरफ रह गया, नहीं तो ठीक डिप्टी साहब की बगल में आ बैठता। यह देख कर ठाकुर साहब भी घबराये। उन्होंने समझ लिया कि उनके साथी सब नौसिखिये हैं। अगर वे उनके भरोसे रहे तो शायद कोई भी जीता न बचेगा। जैसे ही शेर छलाँग लगाकर भूमि पर गिरा ठाकुर साहब ने फायर किया। शेर बुरी तरह दहाड़ने लगा। वह शायद एक बार फिर उछलना चाहता था, परन्तु जख्मी हो गया था और बेबस होकर छलाँग लगाने के बजाय वह एकदम इधर-उधर हो गया। हमने टार्च से बहुतेरा प्रयत्न किया कि मचान पर बैठे-बैठे ही शेर को ढूँढा जाय, पर हम असफल रहे। शेर भाग निकला था।

ठाकुर साहब ने फिर पैंतरा बदला और हितोपदेश की कथा फिर से होने लगी। डिप्टी साहब को ताना मारते हुए वे बोले : "साहब, आपने तो कमाल कर दिया। सभी को मरवा दिया होता। आप तो अच्छे खासे निशानेबाज हैं और हम सब आपके साथ हैं। एक गोली तो आपने चलाई होती। अच्छा, अब सही। अभी तो (घड़ी की ओर देखकर) चार बजे हैं। दो घण्टे रात बाकी पड़ी है। अभी न जाने कितने शेरों से वास्ता पड़ेगा।"

ठाकुर साहब की आशा डिप्टी साहब के हृदय में दुराशा बनकर चुभी। कुछ देर तो वे चुप रहे, पर दो मिनट में ही फूट पड़े—"ठाकुर साहब आप गलत समझे। शेर का शिकार हँसी-मजाक तो नहीं। हम

तो पहली बार शिकार के लिए आये हैं। आप बीस साल से शेर का शिकार खेल रहे हैं। आपको तो पता होना चाहिये था, कि जो पहली बार मचान पर बैठता है, उसके हाथ-पैर फूल जाते हैं। निशाना लगाना तो एक तरफ, वह बन्दूक का भार भी मुश्किल से उठा पाता है। पाँच-सात बार इसी प्रकार आना हो, तब कहीं शेर पर गोली चलाने की हिम्मत पड़े।"

इसी तरह बातें होने लगीं। बातों में सबसे अधिक भाग बहादुर ने और मैंने लिया। ठाकुर साहब कुछ बुझ से गये और उन्होंने चुप्पी साध ली। कुछ देर बाद पौ फट गई और उजाला होने लगा। डिप्टी साहब की भैंसे से आँखें चार हुई और वे खिल-खिलाकर हँस पड़े—"कौन कहता है, हम ही सौभाग्यशाली हैं। इस भैंसे को देखो जो जलती आग में से जीवित निकल आया। शेर के पंजे खाकर भी यह अब घास चर रहा है।"

सात बजे हम लोग मचान से नीचे उतरे और जैसे खाली हाथ आये थे, वैसे ही वापस चल दिये। सब दिल में लजा रहे थे। कुछ देर पहले अपनी बन्दूकों पर हमें गौरव था और हमने बहुमूल्य भूषणों की भाँति उन्हें धारण किया था। अब वही बन्दूकें निरर्थक भार जान पड़ती थीं। कंधे इन्हें उठाने से इन्कार करते थे। आध घंटे से पहले हम लोग डाक बँगले पर जा पहुँचे। मैं सीधा अनीस के कमरे में गया। वह अभी तक सो रहा था। मेरे पाँव की आहट से वह जाग उठा और कहने लगा कि हमारे जाने के बाद किस प्रकार उसने प्रेमचन्द की चार कहानियाँ पढ़ीं और कैसे वह पढ़ता-पढ़ता सो गया। अनीस ने अनेक बातें कीं, पर यह नहीं पूछा कि हमने शिकार में क्या

मारा ? मैंने झल्ला कर कहा—"आप भी अजीब आदमी हैं। यह तो पूछा होता, कि हमने क्या कुछ कमाया।"

उत्तर मिला—"आह, रहने भी दो, जब अनाड़ी लोग शिकार के लिए जाते हैं, वे यदि खुशकिस्मत हों, तो एक ही कमाई कर सकते हैं। वह कमाई है, अपने आपको जिन्दा वापस ले आना।"

मुद्रा के खेल

प्रो० मुरारीलाल एक स्थानीय कालिज में अर्थशास्त्र के अध्यापक हैं। सर्वसम्मति से मित्र लोग उन्हें किताबी-कीड़ा कहते हैं। उनका एकमात्र व्यसन पुस्तक खरीदना और पढ़ना है। वे कभी किसी की बात में दखल नहीं देते और न ही किसी से विवाद करना उन्हें रुचता है। विश्वविद्यालय में ही नहीं, नई दिल्ली के सामाजिक क्षेत्रों में भी लोग उनका आदर करते हैं।

इसीलिये उस रोज मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, जब प्रो० मुरारीलाल ने कैलाश को रेशमी टाई और रूमाल खरीदने से मना किया। टाई और रूमाल का मूल्य था २१ रु०। साधारणतः, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, मुरारीलाल जी किसी की बात में दखल नहीं देते। जब तक उन्हें बुलाया न जाय, वे कभी किसी से नहीं बोलते। उनके पास बैठे लोग, चाहे कैसी ही सनसनीपूर्ण बातें कर रहे हों, उनकी जिज्ञासा, उत्सुकता अथवा उत्कंठा उन्हें कभी उन लोगों से बात करने पर बाध्य नहीं करती। कालिज से घर आते समय उन्हें यदि सड़क पर एक हजार आदमियों का जमघट दिखाई दे, तो आँख भर कर भी उनकी ओर नहीं देखते और न भीड़ का कारण जानने की चेष्टा करते हैं। वे सदा अपने काम से ही काम रखते हैं। ऐसे व्यक्ति ने कैलाश की बात में कैसे दखल दिया और उसे क्यों रेशमी टाई और रूमाल न खरीदने की सलाह दी, इस पर मुझे अचम्भा हुआ।

प्रो० मुरारीलाल का कहना था, कि इन दिनों जब कि मँहगाई और मुद्रास्फीति बराबर बढ़ती जा रही है, ऐसी फजूलखर्ची करना या अनावश्यक चीजें खरीदना, राष्ट्रद्रोह का काम है। कैलाश को मुरारीलाल जी की बात सुननी पड़ी; क्योंकि उसका इस प्रकार हस्तक्षेप एक बहुत ही बड़ी असाधारण घटना थी। रेशमी टाई और रूमाल वहीं छोड़, हम तीनों आदमी कॉफी हाउस चले गये। सोचा, कि कॉफी भी पियेंगे और प्रो० साहब ने मुद्रास्फीति के निवारण का जो मार्ग बताया है, उस पर भी विचार हो जायेगा।

कॉफी सामने आने से पहले ही विवाद छिड़ गया। मुरारीलाल ने अपने दृष्टिकोण की व्याख्या इस प्रकार की····।

"आजकल हमारे देश में मुद्रा बहुत अधिक मात्रा में बढ़ गई है। जब मुद्रा का बाहुल्य हुआ तो चीजों के दाम भी बढ़ने ही थे। जो चीज भले दिनों में दस रुपये में आती थी, उसका दाम अब तीस है, क्योंकि खरीदने वाला उतावला है और उसकी जेब बहुत भारी हो गई है। मूल्य स्तर को आप जड़ या बेजान न समझें। वह बहुत संवेदनाशील होता है। उपलब्ध मुद्रा की मात्रा पर उसकी सदा आँख रहती है। अगर सब लोग यह निश्चय कर लें कि दैनिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ मात्र ही खरीदेंगे और विलासिता की सामग्री जैसी अनावश्यक चीजों से परहेज करेंगे, तो मुद्रास्फीति की बधिया बैठ जाय। हमारे पास जो फालतू धन है, उसका सबसे अच्छा उपयोग बचत ही है। इस धन को हमें बचाना चाहिये और आजकल कम-से-कम खर्च करना चाहिये। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का भला है।"

कैलाश प्रो० साहब की बात चुपचाप सुनते रहे। वे मन ही मन में कुछ सोचते हुए दिखाई पड़े। जैसे ही मुरारीलाल जी ने अपनी बात खतम की और सिगरेट सुलगाने के लिये दियासलाई निकाली, कैलाश ने इसे अपने विचार प्रकट करने का संकेत समझा। वे बोले........"आप तो अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ हैं। इसलिये जो आप ने कहा वह ठीक ही होगा। हम लोग हैं अनजान और अनपढ़े। यह तो समझ में आता है कि आजकल जितना कम खर्च किया जाय उतना अच्छा है और विलासिता की सामग्री खरीदना शोभनीय नहीं, परन्तु एक बात बतलाइये। अगर आवश्यक वस्तुएँ खरीदने मात्र से यह मुद्रास्फीति की महामारी रुक सकती है तो विलासिता की सामग्री के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगा दिया जाता। जो बात आप कह रहे हैं, उसका सरकार को भी तो पता होगा। सरकार जानती है कि शराब, अफीम, चरस आदि मादक द्रव्यों की खुली बिक्री ठीक नहीं। इन चीजों की बिकी पर नियंत्रण करने के लिये उसने अनेक प्रतिबन्ध लगाये हैं, जिनका संचालन काफी सफलता से हो रहा है। ऐसे ही प्रतिबन्ध दूसरी चीजों पर, जिन्हें आप अनावश्यक समझते हैं, क्यों नहीं लगा दिये जाते।"

मुरारीलाल जी कुछ बोलने ही जा रहे थे कि कैलाश ने नम्रता-पूर्वक कहा अभी उन्हें कुछ और कहना है........"एक निवेदन और है। जब से लड़ाई खतम हुई है, मैं तो यही सुन रहा हूँ कि भारत के जन साधारण का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। अब हम स्वतन्त्र भारत के नागरिक हैं। हमारा जीवन-स्तर ऊँचा उठना चाहिये ताकि हमारे प्रवासियों को दक्षिण अफ्रीका, कनेडा, अमेरिका आदि

से धक्के न दिये जायें और हमारे देश के लोग भी उन देशों के साथ हिल-मिल कर रह सकें। कमखर्ची और अनावश्यक वस्तुओं से परहेज के सिद्धान्त का इस समस्या पर क्या प्रभाव पड़ेगा? 'प्रवासी की आत्मकथा' में कहीं पर कहा गया है कि नीम की दातुन की अफ्रीका में बहुत खिल्ली उड़ाई जाती थी। इसलिये भारतवासियों में टुथब्रश और दंतमंजन का प्रचार करना पड़ा। इसी प्रकार विदेशी ढंग के रहन-सहन को अपनाने के लिये भी उन्हें प्रेरित किया गया। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि हमें अपने देश में परम्परागत सात्विकता और सरलता की तिलांजलि देने की आवश्यकता नहीं, परन्तु फिर भी यह तो विचारणीय है ही कि धन के होते हुए आवश्यकताओं को न्यूनतम स्तर पर रखना राष्ट्र के हित की दृष्टि से वांछनीय है अथवा इसके प्रतिकूल?"

प्रो० साहब ने कैलाश को उनकी वाक्पटुता पर बधाई दी और उनकी शंकाओं का इस प्रकार समाधान किया :—

"आपने जो आपत्ति की है वह बिल्कुल स्वाभाविक है। अर्थशास्त्र यदि ऐसा सरल विज्ञान होता जैसा उसे आप समझ रहे हैं, तो संसार की यह गति क्यों होती? यह विषय वास्तव में बहुत टेढ़ा है। इसमें पग-पग पर विषमताएँ और विरोधाभास सामने आते हैं। जिस विरोधाभास की आपने चर्चा की है वह तो सैकड़ों में से एक है। अर्थशास्त्र में बहुत से ऐसे निष्कर्षों का उल्लेख है जो दो बिल्कुल भिन्न और प्रतिकूल परिस्थितियों से पैदा होते हैं। इसलिए अर्थशास्त्री प्रायः कहते हैं कि जो कम से कम खर्च करके पूंजी जुटाता है वह ठीक उसी तरह सम्पन्नता का साधक है जैसे वे लोग जो बराबर खर्च

करते रहते हैं। बात यह है कि पूँजी तो जोड़ने से ही जुड़ेगी और जो इसे जुटाता है वह निश्चय ही श्रेय का भागी है, दूसरी ओर अगर अंधाधुंध खर्च करने वाले न हों तो पूँजी का वितरण दोषपूर्ण हो जाय और धन इने-गिने लोगों के हाथों में ही पड़ा सड़ता रहे। अतः मैं कहूँगा कि विरोधाभासों से घबराने की जरूरत नहीं। बात को समझने की आवश्यकता है। मेरा अब भी यही आग्रह है कि आज के युग में जो भारतीय कम खर्च करता है वही राष्ट्र का सच्चा हितैषी कहा जा सकता है, क्योंकि मुद्रा की बहुलता का नियन्त्रण ही मुद्रास्फीति की रोकथाम का एक मात्र उपाय है।

कैलाश—"अगर ऐसी बात है तो आपको मुझे यह समझाना होगा कि जिस गति से मुद्रास्फीति बढ़ रही है उसी गति से अंधाधुंध खर्च करने की प्रवृत्ति भी क्यों बढ़ रही है। वे लोग भी जो मितव्ययता को जीवन का मूल-मंत्र मानते आये हैं, आज अधिक से अधिक खर्च करने में ही बड़ाई समझते हैं। देश के कई भागों में आजकल मद्यनिषेध लागू है। परन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि १९३९ में जितनी मदिरा की खपत अखंड भारत में थी उससे अधिक शराब खंडित भारत १९५० में पी गयी। युद्ध से पहले जितनी मोटरकारें समस्त भारत में थीं, आजकल कहीं अधिक विभाजित भारत में हैं। आपके सिद्धान्त के अनुसार यह सब तो अनर्थ ही हुआ। जब बड़े आदमियों द्वारा यह सब कुछ हो रहा है तो साधारण जनता को दोषी कौन ठहराये ?"

वाद-विवाद कुछ नीरस होता जा रहा था। मौका पाकर मुझे कहना पड़ा कि मित्र लोग अधिक गम्भीर हो गये हैं। मैंने कहा—

"अगर कैलाश अधपढ़े हैं तो मैं कोरा निरक्षर हूँ। आपके सिद्धान्त चाहे जो कहते हों मुझे तो मुद्रा की अधिकता में कोई आपत्ति दिखलाई नहीं देती। मुद्रा से हम आवश्यक चीजें खरीदते हैं। अगर आवश्यक चीजें खरीदने योग्य मुद्रा उपलब्ध है तो इससे किसी को क्या मतलब कि वह मुद्रा थोड़ी है या अधिक? मुद्रा का बोझ किसे अखरेगा? हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसका वितरण न्यायसंगत हो। ऐसा न हो कि किसी के पास जरूरत से अधिक और दूसरों के पास जरूरत से कम रहे। अपनी मोटी बुद्धि के अनुसार मेरी तो यही राय है कि जिसको भगवान ने दिया है उसको खर्च करना ही चाहिये। मुद्रास्फीति क्या है? यह कैसे घटती-बढ़ती है? यह विषय जन-साधारण के लिए दुर्बोध होने के अतिरिक्त विवादग्रस्त भी है। सभी अर्थशास्त्रियों की इस पर एक राय नहीं। शिक्षित वर्ग ही नहीं, अर्थविशेषज्ञ तक इसके सम्बन्ध में एकमत नहीं। भला फिर हम जैसे अनपढ़ लोगों की तो बिसात ही क्या? मुझे याद है गत वर्ष उत्तर प्रदेश के विशेषज्ञों ने प्रान्तीय सरकार के बजट की कैसी सुन्दर आलोचना की थी। आधे विशेषज्ञों की राय में बजट मुद्रास्फीति निरोधक था और आधों का खयाल था कि उससे मुद्रास्फीति को प्रोत्साहन मिलेगा! मैं तो समझता हूँ सरकार भी बेचारी निर्दोष है। आखिर उसके काम-काज में भी तो इन विशेषज्ञों का ही दखल है।

"और सुनिये, बम्बई में हमारे मित्र हैं न जोशीजी। उन्होंने दो महीने हुए बाइसिकल फेंक नई कार खरीद डाली; क्योंकि बम्बई सरकार ने कार खरीदने के लिए अफसरों को इतनी सुविधाएँ दे रखी हैं कि कार रखने का सभी को प्रलोभन होता है। सरकार का मत है कि

कार वालों की संख्या बढ़ने से मुद्रास्फीति रुकेगी। यह बात मुझे कुछ जँचती है। कार उपयोगी चीज तो है ही, आजकल जो भी इसे खरीदता है उसके पास और कहीं खरचने को पैसा बच ही नहीं सकता। पैट्रोल के लिए उधार न लेना पड़े यही बहुत गनीमत है। आश्चर्य की बात है कि केन्द्रीय सरकार का मत इससे भिन्न है; कम से कम पहले भिन्न अवश्य था। अफसरों को कार खरीदने की जो सुविधाएँ युद्ध से पहले उपलब्ध थीं, १९४७-४८ में उनमें कुछ कमी कर दी गई। सम्भवतः सरकार का मत था कि करों की वृद्धि से मुद्रास्फीति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इस झमेले से मुद्रास्फीति की परिभाषा ही गड़बड़ा जाती है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि मैं तो इसकी परिभाषा अपनी जेब के अनुसार बदलता रहता हूँ। जब पैसे हुए तो खर्चने में ही आनन्द है। बेचने वाला भी मेरे कारण चार पैसे कमाता है। और जब जेब खाली हो तो इस विवाद से लेना-देना ही क्या है?

कैलाश को यह बात सुन कर बड़ा मजा आया। मुरारीलालजी कुछ बोलने ही जा रहे थे कि मेज पर जोर से हाथ मारते हुए कैलाश ने इस प्रकार मेरे शब्दों का अनुमोदन किया :—

"यह कमखर्ची की दलील तो मेरी समझ में नहीं आती। यह तो नदी के बहाव को नदी के बीच खड़े होकर रोकने के प्रयास के बराबर है। जब जीवनयापन का व्यय क्रमिक रूप से हर साल बढ़ता जा रहा हो तो सभी को अधिक मुद्रा की जरूरत पड़ेगी। अनाज, कपड़ा, चीनी, घी, विदेशी माल, तम्बाकू, मिट्टी का तेल आदि सभी चीजों के दाम बढ़ रहे हैं। पचास रुपये का जो मूल्य १९४८ में था वह १९४९ में नहीं रहा, और जो १९४९ में था वह १९५१ में नहीं रह पाया। मुद्रा

तो तभी सिकुड़ेगी जब थोड़े दामों में अधिक चीजें मिल सकें अर्थात् जब चीजों के भाव गिरें। सो ठीक इसके विपरीत रहा है। इसीलिये मुद्रा का फैलाव बढ़ रहा है। मेरा विचार है कि अगर बिना चोरी किये मैं रेशमी कपड़े खरीद सकूँ तो इसमें कोई हानि नहीं। क्या खयाल है आपका प्रोफेसर साहब ?"

प्रो० मुरारीलाल—"आप लोगों ने मुद्रा बहुलता के व्यावहारिक पहलू पर जो प्रकाश डाला है उससे मेरा अर्थशास्त्र का ज्ञान कुछ घपले में पड़ गया है। हेमन्त ने जो उत्तर प्रदेश के बजट के सम्बन्ध में कहा है वह केन्द्रीय बजट पर भी लागू होता है। श्री देशमुख के बजट को कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा-प्रसारक कहते हैं और कुछ निरोधक। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त दोनों ही पक्षों का समर्थन करते हैं, ऐसा लोगों का कहना है। जो जैसा चाहे विश्वास कर सकता है, युक्ति उसका बराबर साथ देगी। ऐसी दशा में आपको रेशमी टाई लेते हुए टोक कर मैंने मूर्खता की। चलिये अब खरीद लीजिये।"

"अजी नहीं", मैंने नम्रता से कहा, "रूमाल और टाई खरीदने का अब इनमें दम कहाँ ? वह मुद्रा अब कॉफी-हाउस के अर्पण होगी।"

तरल पदार्थों से हम ठोस खाद्यों पर पहुँच गये और मसाला दोसा के साथ केक आदि के भी आर्डर कर दिये गये। घंटे भर में कैलाश की जेब खाली हो गई। ठंडी साँस भरते हुए वे बोले, "चलो अच्छा हुआ, न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। मुद्रा और मुद्रास्फीति दोनों से छुट्टी पाई !"

दो मुसाफिर

जब देहरादून से हावड़ा एक्सप्रेस चली तो सेकेंड क्लास के डिब्बे में मुझ समेत चार आदमी थे। चारों को लम्बा सफर करना था, इसलिये सब की सीटें रिज़र्व थीं। यद्यपि शाम के साढ़े पाँच बजे थे, अभी भी दून की वादी में चारों तरफ, विशेषकर पर्वतों की चोटियों पर सूर्य की धूप पूरे जोर से पड़ रही थी। यह जून का अन्तिम सप्ताह था।

मैं अपनी सीट पर बैठा प्राकृतिक दृश्य का आनन्द ले रहा था और मन ही मन में कुछ गुनगुना रहा था। साथ वाली नीचे की सीट पर एक मिलिटरी के अफसर सरदार अपना बिस्तरा खोले आराम से बैठे हुए थे। शेष दो सज्जन बंगाली थे। वे अपनी-अपनी सीट पर लेटे पढ़ने में व्यस्त थे।

सरदार जी सफरमैना दल में लेफ्टीनेंट थे और अब लखनऊ जा रहे थे। उनकी गरदन बराबर खिड़की से बाहर निकली थी। डोईवाले का स्टेशन आने तक वे उसी तरह बाहर मुँह किये बैठे रहे। स्टेशन पर गाड़ी रुकते ही एक और सज्जन हमारे डिब्बे में आ गये। इनकी सीट रिज़र्व नहीं थी, परन्तु एक और पंजाबी भाई को अन्दर बैठा देख वे बेधड़क डिब्बे में आ गये। आगन्तुक का अनुमान बिल्कुल ठीक था। अन्दर आते ही लेफ्टीनेंट सज्जनसिंह ने प्रेमपूर्वक उन्हें अपनी सीट पर बिठा लिया। आगन्तुक का नाम मोहनसिंह था। बैठते ही तुरन्त दोनों ने एक दूसरे का परिचय पूछा।

जब दोनों आपस में कुछ खुल गये तो सज्जनसिंह ने फिर खिड़की से बाहर गरदन निकाली।" एक मिनट बाद ही मोहनसिंह की तरफ देखते हुए उन्होंने बड़े सन्तोष से कहा—"अब सूरज डूबा है, यदि आप भी साथ दें तो ह्विस्की निकालूँ ?"

"नेकी और पूछ-पूछ," मोहनसिंह ने हँसते हुए कहा। अपने थैले से लेफ्टीनेंट सज्जनसिंह ने दो बोतलें—एक पानी की और दूसरी ह्विस्की की, और दो गिलास निकाले और प्रेमपूर्वक मदिरापान आरम्भ किया। मधुर पंजाबी में इन दोनों की बातचीत और उसमें भावुकता, मैत्री और बेतकल्लुफी के क्रमिक विकास से मेरा ध्यान उन सज्जनों की ओर चला गया। अपनी किताब बन्द कर मैं चुपचाप लेट गया और उन दोनों की बातें सुनने लगा।

ले० सज्जन—"फौज में मेरा यह सोलहवाँ वर्ष है। इस बीच में मैं बर्मा, मध्यपूर्व, चीन, इटली, इंगलैंड और कई दूसरे देशों में रह चुका हूँ। आप विश्वास कीजिये मैंने कभी मदिरा नहीं पी। साथी लोग पीते थे, तो मैं एक तरफ हो जाता था। इसकी दुर्गन्ध सहन करना मेरे लिए मुश्किल था। इन चार वर्षों से मेरी दुनिया ही बदल गई है। देश के बँटवारे के कारण जो अनहोनी घटनाएँ घटीं उन्होंने मेरा सिर घुमा दिया है। अच्छे-बुरे, ठीक-गलत, सत्-असत् इन सबका भेदभाव ओझल होता दीखता है।

"जेहलम जिले में चोया सैदनशाह में मेरा घर था। सैकड़ों बीघा ज़मीन थी। अच्छे खासे रईसी ठाठ थे। जुलाई १९४७ में देहात में दंगे शुरू हुए; परन्तु हमें चिन्ता न थी। सारे देहात पर मेरे परिवार का रोब था। १५ अगस्त तक बराबर दंगा होता रहा। इतना ही

जानता हूँ कि घर का कोई भी आदमी इधर जीवित नहीं आ सका। १६ आदमियों के परिवार में अब हम दो रह गये हैं। अब सूर्य के डूबते ही मेरा धीरज टूटने लगता है और आप ही आप मेरे हाथ बोतल और गिलास की तरफ लपकते हैं।"

मोहनसिंह—"मेरा घर तो आपसे भी दो-सौ मील आगे था। बन्नू में हम लोगों का बड़ा अच्छा काम चल रहा था। हमलोग राजपूत हैं। मेरे पूर्वज सौ से अधिक वर्ष हुए कुमाऊँ से बन्नू जा बसे थे। मेरे पिता की निजी सम्पत्ति दो लाख से कम की नहीं थी। लेकिन यार हम तो वहीं पीने लग गये थे; शुरू-शुरू में हम पर तो बँटवारे का उल्टा ही असर पड़ा। ईश्वर की दया से परिवार के सब लोग कुशलता-पूर्वक हिन्दुस्तान आ गये थे; परन्तु किसी के पल्ले कुछ नहीं था। दसियों दिन सूखे बीते। खाने के लाले पड़े हुए थे, शराब तो स्वप्न की चीज़ बन कर रह गई थी। धीरे-धीरे काम फिर चलने लगा है। मैं डोईवाला शुगर मिल में काम करने लगा हूँ और दूसरे लोग भी अपने-अपने ठिकाने जा लगे हैं।"

—२—

इन लोगों को पीते और बात करते हुए एक घंटा हो चुका था। जब हरिद्वार का स्टेशन आया तो कुछ देर के लिए इनकी बातचीत बन्द हो गई। स्टेशन पर खड़े सैकड़ों मुसाफिर जब गाड़ी में बैठ गये और शोरगुल जरा कम हुआ तो इनकी बातें शुरू हो गईं।

सज्जनसिंह—"दोस्त, मैं तो जीवन से कुछ विरक्त-सा हो गया हूँ। सोचता हूँ कि अब नौकरी में क्या धरा है। छः सौ बीघा जमीन करनाल में मिल गई है, क्यों न आराम से जा कर वहीं बैठा जाय। जी में

आता है कि सुरिन्दर को भी वहीं बुला लूँ। वह पाँच सौ रुपया महीने के लिए बंगलौर में क्यों झक मारे। दोनों भाई मजे से खेती करेंगे और शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे।"

मोहनसिंह—"यह तुम्हारी विरक्ति की बात तो समझ में नहीं आती। हाँ, जमीन पर जा बसने का ख्याल बुरा नहीं। आजकल नौकरी में वह मौज कहाँ जो खेती में है। छः सौ बीघे में हल चला कर तो तुम राजा की तरह रह सकते हो। एक ट्रैक्टर ले लो तो बिलकुल ही पौ-बारह हैं। चाहे जैसा खाओ-पिओ, फिर भी साल में हजारों रुपया बचेगा।"

सज्जनसिंह—"अरे यार, रुपये को क्या सिर में भरना है। मुझे तो एक जगह शान्ति से रहना भाता है। इस निरन्तर स्थानान्तरण के जीवन से ऊब गया हूँ। अपनी जमीन पर अच्छा सा गाँव बसायेंगे। दस बीघे का एक बाग लगायेंगे जिस में हमारा घर होगा। घर का डिजाइन मैं बहुत सोचसमझ कर छाँटूँगा। उसमें मेहमानों के लिए अलग स्थान होगा और डंगर-ढोरों के लिए अलग। एक छोटा-मोटा वाचनालय भी बनाने का विचार है। सुरिन्दर को किताबों का मुझसे भी अधिक शौक है। मैं तो लाहौर रह कर ही पढ़ा हूँ, उसने लन्दन में शिक्षा पाई है। खेती तो हम करेंगे ही, लेकिन और लोगों में और हममें फर्क होगा। हम सारा काम योजनानुसार करेंगे। खाली धन बटोरना हमारा उद्देश्य न होगा। हम एक आदर्श ग्राम बसाना चाहते है जिसमें भूमिदार से लेकर कमीनों तक को बराबर के अधिकार हों। सबकी आवश्यकताएँ पूरी होंगी और सब बराबर के साझेदार होंगे।"

मोहनसिंह—"तुम्हारी योजना तो बिल्कुल कमाल की है। मुझे इसमें

कोई अड़चन दिखाई नहीं देती। जमीन पर तुम्हारे पहुँचने की देर है, आदर्श ग्राम बना पड़ा है। कठिनाइयाँ तो हमारे सामने भी हैं, पर मैं उन पर काबू पा कर हटूँगा। अभी तक तो मैं कम्पनी का नौकर हूँ। अगले ही महीने कुछ हिस्से खरीदने जा रहा हूँ। तब मैं शुगर मिल में नौकर की हैसियत से नहीं साझेदार की हैसियत से काम कर सकूँगा। अपनी मिलनसारी पर मुझे बड़ा भरोसा है। हिस्सेदारों की तरफ से डायरेक्टर चुने जाने में मुझे देर नहीं लगेगी। तब मजा आयेगा। डायरेक्टर और मालिक में भेद ही क्या है ? खाली अपना ही स्वार्थ पूरा करने के पक्ष में मैं भी नहीं। कुछ ईश्वर की ऐसी दया है कि किसी भी तरह के झगड़े निपटाते मुझे देर नहीं लगती। अपनी नियत साफ है और होठों पर मिठास है। हमने आज तक किसी से झगड़ा नहीं किया। दूसरे के सौ काम सँवारे होंगे, पर अपना हाथ दूसरे के आगे शायद ही कभी पसारा हो। मैं तो चीनी उद्योग में ही अपना भविष्य देखता हूँ। मिल का डायरेक्टर बनने की देर है, अपने भाइयों को भी डोईवाले में ही कोई काम करा दूँगा। अच्छी जगह है। पहाड़ पास है और सारी बस्ती पर अपना खूब रोब है। डोईवाले में कई और मिलों की गुंजायश है। यह नहीं हो सकता कि किसी भी नये काम में अब मेरा हाथ न हो।"

— ३ —

अब रात के ११ बज गये थे। पीने के साथ-साथ मित्र लोगों ने खाना भी शुरू कर दिया। परन्तु बातें बराबर जारी रहीं। बातचीत की गति अब कुछ बढ़ गयी थी। यद्यपि शब्द कुछ धीमे पड़ गये थे, पर विचार बराबर आगे बढ़ रहे थे।

सज्जनसिंह —"भाई मोहनसिंह, यह तो बड़ी खुशी की बात है कि तेरा अड्डा भी जम गया। इस उखाड़-पछाड़ के बाद जो अपनी हिम्मत से कहीं पाँव जमा ले वही गुरु का प्यारा है और सच्चा खालसा कहलाने का अधिकारी है। जैसा तूने अभी कहा मेरी योजना भी नम्बर एक है। मैं एक बात तुझे बतलाना भूल गया। मुझे इतिहास की किताबें पढ़ने का व्यसन है। मैंने अभी कुछ दिन हुए पढ़ा कि प्रसिद्ध मराठा सन्त नामदेव छः महीने गुरुदासपुर में रहे थे। इस सम्बन्ध में अब मैं अधिक सामग्री इकट्ठा करना चाहता हूँ। उनके शब्द गुरु ग्रन्थ साहब में तो हैं ही, मेरा ख्याल है उन्होंने अमृत भी जरूर छका होगा। खैर, यह तो एक मामूली-सी समस्या है। मेरे मस्तिष्क में इतिहास की दसियों खोजें चक्कर लगा रही हैं। अगर कोई पूछे तो मैं अपने जीवन का यही ध्येय बतलाऊँगा—इतिहास की पुस्तकें पढ़ना और नवीन घटनाओं पर प्रकाश डालना। मेरे पास २०० पुस्तकों की सूची है। रुपया हाथ में आते ही मैं इन्हें खरीद डालूँगा।

"अब जहाँ इतनी बात हो गई, एक बात बच रही है, वह भी तुझसे क्या छिपाऊँ। ३५ वर्ष की अवस्था में मैंने विवाह का निश्चय इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया है। मैं एक ऐसी विदुषी से विवाह करने जा रहा हूँ जो खोज के काम में मेरी सहायता करेगी। वह इतिहास में एम० ए० पास है और उत्तर प्रदेश के एक महिला कालेज में प्रोफेसर है। जहाँ हमारा कुछ काम चला, मैं अपने ग्राम को शिक्षा-केन्द्र का रूप दे दूँगा। भगवान की दया चाहिए। वहाँ इतिहास के अध्ययन के लिए दूर-दूर से लोग आया करेंगे। अभी तो पंजाब विश्वविद्यालय मारा-मारा फिर रहा है, कौन जाने वह मेरे गाँव में आ टिके।"

मोहनसिंह—"सरदार सज्जनसिंह, तेरा संकोच तो मेरी समझ में नहीं आ रहा। तेरी लाइन तो बिलकुल साफ है, कहीं कोई रोक-टोक नहीं। फिर खुल के बात कर। विश्वविद्यालय अगर तेरे गाँव में आ जाय, यह उसका सौभाग्य है। और अगर वह वहाँ न आये तो तू अपना ही विश्वविद्यालय खोल लेना। यार, मुझे याद रखना, कभी मुसाफिर समझ ही के भूल जाये। अव्वल तो मैं तेरे सौ काम आऊँगा। जब जमीन पर मकान बनायेगा तो सारी लकड़ी मैं डोईवाले से भेज दूँगा।

"ले अब मैं भी तुझसे क्या छिपाऊँ। मेरे हाथ भी एक गुर लगा है। गन्ने की सीठी से बड़ी बढ़िया इमारती लकड़ी बनती है। इसका पूरा गुर मुझे एक आदमी से मिल गया है। मैं इसी काम के लिए घर से निकला हूँ। महीने भर में दस लाख रुपया इकट्ठा हो जायगा। उस लकड़ी के उत्पादन के लिए डोईवाले में बहुत बड़ा मिल तैयार किया जायगा। पैसा लोगों का होगा, अक्ल यारों की। और भी दसियों काम मेरे याद हैं। साल भर में वह काम चलेगा कि रहे नाम मौला का। फिर डोईवाले में ही हमें बन्नू बना दिखाई देगा। आदमी में हिम्मत चाहिये, फिर कमी किसी चीज की नहीं। अगर पहले हजारों में खेलते थे, ईश्वर ने चाहा अब लाखों में खेलेंगे।"

मुझे इन लोगों की बातों में बहुत आनन्द आ रहा था। शराब के नशे में अब दोनों चूर हो गये थे, इसलिए शायद बोलने की इच्छा रखते हुए भी मुँह नहीं खुलता था। दोनों बैठे-बैठे एकदम सो गये। मैंने डिब्बे की बत्ती बुझा दी, परन्तु बहुत देर तक मुझे नींद नहीं आई।

गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ गई थी। मैंने खिड़की से झाँक कर देखा कोई स्टेशन आने वाला था। जब गाड़ी प्लैटफार्म पर आकर

रुकी तो देखा शाहजहाँपुर आ गया है। मोहनसिंह ने बातों-बातों में कहा था कि उसे शाहजहाँपुर जाना है। मैंने उसे जगाना अपना कर्त्तव्य समझा। बटन दबा कर रोशनी की और धीरे से मोहनसिंह का हाथ हिलाया। मैंने कहा—"शाहजहाँपुर आ गया है, आपको यहीं उतरना है न ?" सुषुप्ति की अवस्था में उन्होंने जो जवाब दिया वह सुन कर मैं हैरान रह गया। उन्होंने कहा—"आने दो। आने दो। जहाँ सज्जनसिंह जायगा वहीं मैं जाऊँगा। कोई परवाह नहीं।" बत्ती बुझा मैं चुपचाप अपनी सीट पर जा लेटा और सो गया।

मेरी आँख बहुत दिन चढ़े खुली। गाड़ी के लखनऊ पहुँचने में सिर्फ आधा घंटा रह गया था। मैंने जल्दी-जल्दी मुँह-हाथ धोकर कपड़े बदले, सब चीजें इकट्ठा कीं और अपना होलडॉल लपेट डाला।

दोनों मित्र भी जाग उठे थे। मैं हैरान था कि वे चुप क्यों हैं। मोहनसिंह के पास सामान था ही नहीं। सज्जनसिंह ने उठ कर अपना बिस्तर लपेटा और सब चीजें थैले में डाल दीं। सज्जनसिंह ने केवल इतना पूछा: "कहिये आप कहाँ उतरियेगा," जिसका मोहनसिंह ने यह जवाब दिया: "चलो मैं भी लखनऊ ही उतर जाऊँगा। दो दिन ठहर कर फिर शाहजहाँपुर चला जाऊँगा।" इसके सिवा दोनों में और कोई बातचीत नहीं हुई।

लखनऊ का स्टेशन आ गया। वे दोनों नीचे उतर गये और हाथ मिला एक दूसरे से विदा हो गये। गाड़ी से उतर कर मैं भी अपने ठिकाने जा पहुँचा। परन्तु मैं घंटों सोचता रहा कि उन्होंने एक दूसरे का पता तक नहीं पूछा। क्या वे रात की सभी बातें भूल गये थे ? या हो सकता है दोनों समझते हों कि उन बातों का कोई मूल्य नहीं था।

मुझे विश्वास है कि यदि उन्होंने मदिरा न पी होती और दो घंटे वैसे ही बातचीत की होती तो वे अवश्य एक दूसरे के अच्छे मित्र बन गये होते। इस धारणा ने मुझे और भी चक्कर में डाल दिया, क्योंकि मैं सुनता आया हूँ कि मदिरा में और कोई गुण हो न हो यह पीनेवालों को एक दूसरे के निकट अवश्य ला देती है। जो कुछ मैंने देखा उससे यह बात सिद्ध नहीं होती।

मैंने यह घटना अपने एक मित्र को सुनाई जो मदिरापान के बहुत प्रेमी हैं। उन्होंने स्थिति पर इस प्रकार प्रकाश डाला—"मदिरा में आकर्षण और घनिष्ठता के गुण अवश्य हैं, परन्तु जब इसका पलायन के साधनमात्र के रूप में प्रयोग किया जाता है तो इसका प्रभाव आवश्यक रूप से अस्थाई होता है। नशा उतरा और मैत्री काफूर हुई। सज्जनसिंह मोहनसिंह को याद अवश्य करेगा, पर दिन में नहीं, सूरज छिप जाने के बाद।"

नई दिल्ली में एक शाम

जोशीजी बेलगाम के सरकारी हाई स्कूल में मुख्य अध्यापक हैं। उनसे मेरी भेंट १६३५ में पूना में हुई थी। उस वर्ष वहाँ अखिल भारतीय दर्शन सम्मेलन हुआ था। जोशीजी ने बाल मनोविज्ञान सम्बन्धी एक लेख पढ़ा था जो मुझे बहुत पसन्द आया। बातचीत हुई और तीन दिन हम फर्ग्यूसन कालेज में इकट्ठे रहे और दोनों मित्र बन गये। जोशीजी एक-दो बार लाहौर भी आये और मेरे ही यहाँ ठहरे। दिल्ली भी उनका आना-जाना रहता है। विस्तारोन्मुख राजधानी की समस्याओं में उनकी विशेष रुचि है। गत वर्ष जब वे यहाँ आये तो हमने दिल्ली का काफी अध्ययन किया। एक दिन शाम को हम चार घंटे बराबर घूमते रहे। उस दिन हमने जो कुछ देखा वही यहाँ लिख रहा हूँ।

वह छुट्टी का दिन था। होली का त्योहार जा चुका था, लेकिन अभी धूप में तेजी नहीं आई थी। सड़कों पर कहीं-कहीं रङ्ग के धब्बे साफ दिखाई देते थे। कुछ मजदूर और प्रायः सभी ताँगेवाले अब भी अबीर अथवा रङ्ग से रंजित कमीज या कुर्ते पहने हुए थे। बिहार और उत्तर प्रदेश के रहने वालों पर होली के सरूर के लक्षण अभी पूर्णतया लुप्त नहीं हुए थे। कहीं-कहीं तो लोग होली के तीसरे दिन भी गा-बजा कर आनन्द ले रहे थे।

पाँच बजे से कुछ पहले ही जोशी जी और मैं घर से निकल पड़े। मेरे मित्र काफी पीने के आदी थे और मेरा नौकर यह पेय तैयार करना

नहीं जानता था। हम लोग सीधे कनाट प्लेस पहुँचे। कॉफी-हाउस में घुसे तो एक निराला संसार देखा। सारा कमरा सिगरेट के धुएँ से भरा था। कोई कुर्सी खाली दिखाई नहीं दी। दो मिनट तक हम लोग दरवाजे के पास खड़े खाली स्थान की तलाश में निगाह दौड़ाते रहे। इस बीच में सभी की आँखें हम दोनों पर पड़ीं। झेंप के बावजूद हम खड़े रहे, पर जब किसी को उठते न देखा तो निराश होकर बाहर आ गये।

इसके बाद हमने एक-दो और ऐसे जलपानगृहों में जाने का प्रयत्न किया जो कॉफी के लिए प्रसिद्ध हैं, परन्तु भीड़ के कारण कहीं बैठ न पाये।

आखिर मेरे आग्रह पर जोशीजी ने चाय पीना स्वीकार कर लिया। वे एकान्तप्रिय हैं, इसलिए भीड़-भड़क्के से बचना चाहते थे। परन्तु चाय के लिए भी उपयुक्त स्थान हमें आसानी से नहीं मिला। तीन-चार जलपान-गृहों में झाँक चुकने के बाद ही हम एक 'रेस्तराँ' में बैठने का फैसला कर सके।

जोशीजी यह सब देखकर काफी हैरान हुए। उन्होंने सुना था कि उत्तर भारत में चाय और कॉफी का कम प्रचार है, अधिकतर लोग दूध-लस्सी आदि ही पीते हैं। इस पर भी नई दिल्ली के जलपान-गृह, जो बेहद महँगे हैं, इस बुरी तरह से खचाखच भरे होते हैं कि कहीं भी बैठने को जी नहीं चाहता। बम्बई में और दक्षिण में शाम के समय चाय या कॉफी के साथ थोड़ा-सा नमकीन खाद्य खाया जाता है, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं था। हमारे दायें-बायें, या आगे-पीछे सभी मेजों पर खाने पर अधिक जोर था और चाय कम। वास्तव में जोशीजी का

कहना ठीक था कि चाय के बहाने यार लोग पेट भर रहे थे।

हमने जल्दी-जल्दी चाय पी और १५ मिनट में ही उठकर बाहर आ गये। जैसे ही हम बरामदे से होकर कनाट प्लेस का चक्कर लगा रहे थे, मुझे याद आया कि पत्नी ने स्वेटर के बटनों की फरमाइश की थी। बरामदे में बटनों की क्या कमी थी? ध्यान आते ही हम लोग रुक गये और दायें हाथ वाली दूकान के सामने जा खड़े हुए। मुँह से बटन कहने की देर थी कि चुस्त दूकानदार ने दो मिनट में हमारे सामने बीसियों डिब्बे खोलकर रख दिये। नमूनों की विविधता और रङ्गों में मैं ऐसा उलझा कि एक के बजाय तीन सेट खरीद बैठा—एक सीप का, दूसरा चीनी का और तीसरा सींग का। चारों तरफ बिखरी हुई प्रदर्शनी देख जोशीजी ने भी कई चीजें खरीद डालीं। इस सामान को रखने के लिए फिर एक बढ़िया थैला खरीदा गया।

खुले बरामदे में ये लोग कैसे इतना सामान रख पाते हैं, इससे जोशीजी को काफी आश्चर्य हुआ। दाम भी बड़ी दूकानों की अपेक्षा ये लोग कम लेते हैं। मैंने इसका कारण जोशीजी को समझाया। गत मास मैंने उन्हें यह भी लिखा है कि अब कनाट प्लेस के बरामदे खाली हो गये हैं और वहाँ की दूकानें लकड़ी के कठघरों में चली गई हैं।

घूमते-फिरते हम लोग चेम्सफोर्ड क्लब के पास जा निकले। मैंने जोशीजी से पूछा—"क्या आप क्लब में कुछ देर बैठना चाहेंगे?" वे क्लब के अहाते में खड़ी मोटरों की संख्या से ही घबरा गये और बोले—"यह क्लब है या देवी का मेला जहाँ सैकड़ों आदमी घुसे हैं?"

जंतर-मंतर सड़क से हम लोग कनाट प्लेस वापस हो लिये। जोशी-

जी ने बम्बई और पूना के पत्र पढ़ने की इच्छा प्रकट की। उनका अभिप्राय था कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय में चला जाय। मुझे जोशीजी के भ्रम का निवारण करना पड़ा और स्पष्ट शब्दों में उन्हें बताना पड़ा कि नई दिल्ली में सभी कुछ है—होटल हैं, जलपान-गृह हैं, क्लब हैं, कला केन्द्र हैं, नाट्यशालाएँ हैं, सिनेमाघर हैं, परन्तु पुस्तकालय कोई नहीं। इस नाम की संस्था स्थापित करने का नई दिल्ली में अभी तक किसी को ख्याल भी नहीं आया।

जोशीजी इस बात पर बहुत हँसे और बोले—"है तो यह भूल ही, परन्तु बड़ी मजेदार। कभी-कभी ऐसा होता है कि दूसरी बातों के शोर में एक साधारण परन्तु आवश्यक बात की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। चार साल हुए हमारे नगर में एक विचित्र घटना घटी थी। एक स्थानीय कालेज का छात्रावास बनकर तैयार हुआ। इमारत सुन्दर तो थी ही, विशाल भी थी। दो सौ छात्रों के रहने के लिए उसमें स्थान था। जिले के अनुभवी इंजीनियर ने छात्रावास बनवाया था। इसमें सभी प्रकार की सुविधाएँ रखी गई थीं। परन्तु संयोग से इंजीनियर महोदय छात्रावास में पेशाबघर बनाना भूल गये। इसके कारण छात्रों को तो कष्ट जो हुआ सो हुआ, इंजीनियर को भी परेशानी कम नहीं हुई, क्योंकि उन्हें छः महीने बाद ही बने-बनाये कमरों को तोड़कर पेशाबघर के लिए स्थान निकालना पड़ा। नई दिल्ली का भी कुछ ऐसा ही हाल है। पुस्तकालय खोलना यहाँ कोई भूल ही गया।"

हम फिर कनाट प्लेस में आ गये। नेहरू पार्क में एक सभा हो रही थी। एक सज्जन व्याख्यान दे रहे थे। जोशीजी और मैं वहीं खड़े हो गये। सभा में तीन-चार सौ से अधिक आदमी नहीं थे। इनमें ५०

के लगभग चलते-फिरते दूकानदार और खोंचेवाले होंगे।

एक घंटे तक हम लोगों ने कई वक्ताओं के भाषण सुने। अन्त तक हमें यह समझ में न आया कि सभा का उद्देश्य क्या है और किस विषय या पक्ष के समर्थन के लिए वह जुटाई गई है। सभी वक्ता हिन्दू कोड बिल, पाकिस्तान, शरणार्थी समस्या, राशन की गड़बड़, भारत-सरकार का बजट आदि विषयों का उल्लेख करते थे और इन पर निजी विचार प्रकट कर बैठ जाते थे। जोशीजी मुझसे बार-बार पूछते कि यह मामला क्या है? मैं स्वयं उलझन में था, उन्हें क्या समझाता?

इस रहस्य का उद्घाटन अगले दिन के पत्रों से हुआ। स्थानीय पत्रों में सभी भाषणों का बड़ा सुन्दर विवरण पढ़ने को मिला। "धन्य हैं ये पत्रकार," जोशीजी बोले, "अनर्गल प्रलाप को भी सुपाठ्य और रोचक समाचार का रूप दे देते हैं।" प्रसन्न होकर जोशीजी ने पत्रकारों की कृषकों से तुलना की। जैसे कृषक अपनी मेहनत से खाद और कीचड़ को लहलहाती फसल में परिवर्तित कर देते हैं, उसी प्रकार होशियार पत्रकार बेतुके से बेतुके फुटकर विचारों को सुन्दर, सुग्राह्य उद्गारों में बदल देते हैं।

यह सोचते-विचारते हम मद्रास होटल की ओर चल दिये। वहाँ से करोलबाग के लिए बस पकड़नी थी। अड्डे पर २०० स्त्री-पुरुषों की लम्बी पंक्ति देख हम लोग घबरा गये। "इस हिसाब से तो आज घर पहुँच ही नहीं पायेंगे," जोशीजी ने दूर तक कतार को देखते हुए कहा। हमने पास खड़ी मोटर-रिक्शावाले को संकेत किया और उस "फिट-फिटिया" में बैठकर घर वापस आ गये।

अदालती नोटिस

दिल्ली शहर में ऐसे सौभाग्यशाली कितने लोग होंगे जिनका मालिक मकान से कभी झगड़ा न हुआ हो। मेरा ख्याल था मेरी गिनती उन इने-गिने लोगों में हो सकेगी। परन्तु जैसे अचानक पाँव के नीचे आ कर पटाखा बज उठता है वैसे ही अनायास मेरा नाम भी झगड़ालुओं की सूची में दर्ज हो गया। तनातनी कई महीने से चल रही थी, परन्तु मैं शिष्टाचार और मीठी बातचीत से काम लेता रहा। ख्याल था इसी तरह मतभेद रूपी घाव भर जायँगे। मेरी आँख उस दिन खुली जब सहसा मुझे अदालती नोटिस मिला। मालिक मकान ने ११६ रु० की वसूली और मकान खाली कराने के लिए कचहरी की शरण ली थी।

शाम को कैलाश से मिलना हुआ। मैंने नोटिस उनको दिखलाया। उन्होंने एक नजर देखा और चुपचाप तह कर कागज मेरे हवाले कर दिया। वे बोले, "इसमें घबराने की क्या बात है। तुम्हें कचहरी बुलाया गया है, जेल में तो नहीं भेजा जा रहा है। मुझे तो ऐसे नोटिस महीने में कई मिलते होंगे।"

कैलाश की बात से मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वे किसी निजी समस्या में उलझे हैं और मेरी बात पर ध्यान नहीं दे सके। कुछ क्षुब्ध हो मैंने कहा, "अजी जनाब आपकी मैं क्या रीस करूँगा। आप घर के रईस ठहरे। आपके दिल्ली में दर्जनों मकान हैं। शायद आपको घबराहट इसलिए नहीं हुई कि आप इस तरह के नोटिस

औरों को देते होंगे। मेरी स्थिति दूसरी है। मैं वादी नहीं प्रतिवादी हूँ। मेरे हाल पर कुछ रहम कीजिए और इस झगड़े से छुटकारा पाने का कोई सहल मार्ग सुझाइए।"

कैलाश ने फिर नोटिस पढ़ा और दो मिनट गम्भीरता से सोच कर परामर्श दिया कि मैं मालिक मकान को चुपचाप ११६ रु० दे दूँ और आगे के लिए भी उसे विश्वास दिला दूँ कि पैंतालीस के बजाय मैं उसे बराबर साठ रु० किराया देता रहूँगा। ऐसा करने से मालिक मकान नोटिस स्वयं ही वापस ले लेगा।

मैं कैलाश की राय से सहमत नहीं हुआ। यह कहाँ की अक्लमन्दी है कि एक आदमी तो वाजिब किराये से अधिक माँगे और कचहरी जाने की धौंस दिखाये और मैं चुपचाप उसकी सब बातें मान लूँ। मैंने कहा, "मेरा पक्ष निर्बल नहीं। मेरे पास कमेटी की चिट्ठी है जिसमें साफ लिखा है कि इन मकानों का किराया पैंतालीस रुपये है। मैं इससे अधिक क्यों दूँ और क्यों मकान खाली करूँ?"

कैलाश मेरी बात सुन कर बहुत हँसे। बोले, "भगवान् करे तुम जीवन भर ऐसे ही भोले बने रहो। अजमेरी गेट से दूसरी तरफ क्या होता है और वहाँ कौन लोग बसते हैं इसका तुम्हें कुछ पता नहीं। तुम नई दिल्ली की गतिविधि से ही परिचित हो। इसलिये कचहरियों का भी तुम्हें कुछ अनुभव नहीं। मैं मानता हूँ कि तुम्हारा पक्ष मजबूत है और अदालत तुम्हारे खिलाफ फैसला नहीं कर सकती। लेकिन तुम यह नहीं जानते कि अदालत से फैसला कराने का तुम्हें क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा। तुमने हिलेयर बैलक की वह कहानी तो पढ़ी होगी जिसमें एक अनुभवी लन्दन निवासी ने व्यवहार दर्शन की

व्याख्या की है। अदालतों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए एक बार इस व्यक्ति ने अपने मित्रों से कहा : 'मेरे पास एक बहुमूल्य घड़ी है। मान लीजिये घड़ी छीनने के लिए मुझ पर एक गुंडा झपटता है। मैं तुरन्त घड़ी को छिपा लूँगा। अगर वह छीना-झपटी करेगा तो उसका मुकाबला करूँगा। यदि उसने बल का प्रयोग किया तो मैं भी बल से ही उसका जवाब दूँगा, परन्तु यदि उसने यह धमकी दी कि वह मेरे खिलाफ अदालत में मुकद्दमा चला देगा तो मैं चुपचाप जेब से निकाल कर अपनी घड़ी उसको दे दूँगा और भागकर घर में ही दम लूँगा। तब भी समझूँगा कि मैं नफे में रहा और बहुत सस्ता छूटा।' ये हैं एक अनुभवी मुकद्दमेबाज के विचार। मैं तुमसे निवेदन करता हूँ कि १५ रु० मासिक अधिक किराया देने में ही तुम्हारा कल्याण है।"

शायद इसलिए कि मैं अदालतों का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त करना चाहता था, मैं कैलाश का सुझाव स्वीकार न कर सका। नोटिस का जवाब नोटिस से देने के लिए मैंने एक वकील से बातचीत कर ली। उसके बाद आठ महीने में जो कुछ हुआ वह संक्षेप में इस प्रकार है :—

तीन बार कचहरी में पेशी लगी। सबेरे १० बजे से लेकर पाँच बजे शाम तक वहाँ जो मैं मारा-मारा फिरा मेरी अक्ल ठिकाने आ गई। तब भी एकतरफा फैसला होता दिखाई नहीं दिया। पता लगा मुकद्दमा एक साल या इससे भी अधिक साल तक चल सकता है। कैलाश की बात न मान कर मैंने जो गलती की थी उस पर पश्चाताप होने लगा। फिर कैलाश के पास गया और क्षमा याचनाकरके उससे

सारा हाल कह सुनाया।

कैलाश ने कुछ देर तो मेरा मजाक उड़ाया, बाद में तसल्ली दी और कहा—"घबराओ मत, मैं दोनों तरफ के वकीलों से मिलकर समझौता करा दूँगा।" ऐसा ही हुआ, समझौते के अनुसार मुझे मालिक मकान को ११६ रु० के साथ पचास रुपये खर्चे के देने पड़े। इसमें वे साठ रुपये शामिल नहीं जो मेरे वकील ने लिये। आगे के लिए किराया पैंतालीस रुपये ठहरा। इसका लाभ मैं एक महीना ही उठा सका। क्योंकि उन्हीं दिनों मेरी बदली लाहौर हो गई। फिर मुझे मकान भी खाली करना पड़ा। इस सौदे में सभी नफे में रहे, सारा घाटा मुझे ही चुकाना पड़ा।

आज सात-आठ साल बाद जब मैं उपर्युक्त घटना पर विचार करता हूँ, तो मुझे संताप नहीं होता। जो पैसा मैंने खर्च किया उसके बदले में कचहरी और वकीलों का अच्छा अनुभव मुझे हुआ। वह अनुभव बहुमूल्य है और कैलाश की तरह मैं उस पर आज भी गर्व करता हूँ। वकीलों के लिए मेरे दिल में बड़ी श्रद्धा है। प्रत्येक देश में वकीलों ने ही प्रगतिवादी आन्दोलनों का नेतृत्व किया है। भगवान की कुछ ऐसी माया है कि वकील अपने काम को छोड़कर जितना अधिक दूसरे धंधों में पाँव अड़ाता है, उतना ही वह पनपता है। अध्यापक, व्यापारी, डाक्टर अथवा किसी भी और पेशे वाले लोग अगर अपने काम की अवहेलना करते जायँ तो कुछ दिनों में ही उनका निजी काम चौपट होना निश्चित है। वकील के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह जितना अधिक दूसरे बखेड़ों में अपने को फँसाता है उतनी ही ज्यादा उसकी वकालत चमकती है।

वकीलों के बारे में और भी बहुत सी कहावतें हैं। प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक मार्क ट्वेन ने इस वर्ग के सम्बन्ध में बड़े रोचक ढंग से लिखा है। एक दिन वह किसी मित्र के साथ बाहर घूमने गया। सर्दी के दिन थे और गजब का कोहरा पड़ा था। बाहर उन्हें एक और आदमी घूमता हुआ दिखाई दिया जिसे मार्क ट्वेन नहीं जानता था परन्तु उसका मित्र उससे परिचित था। वह आदमी दोनों हाथ अपने ओवरकोट की जेबों में डाले घूम रहा था। मार्क ट्वेन के मित्र ने उस आदमी की ओर संकेत करते हुए कहा—"देखो मार्क ट्वेन, वह नगर का प्रसिद्ध वकील लुई है।"

मार्क ट्वेन ने उस आदमी की तरफ देखा और जवाब दिया, "गलत बात, यह नहीं हो सकता। वह आदमी अव्वल तो वकील है ही नहीं, यदि है भी तो साधारण-सा वकील होगा जिसे अपने पेशे का बहुत अनुभव नहीं। वह वकील काहे का जिसने दोनों हाथ अपने ही कोट की जेबों में डाले हुए हैं। होशियार वकील का कम से कम एक हाथ तो दूसरे की जेब में होना चाहिए।"

इन कहावतों तथा रूपकों में सम्भव है अत्युक्ति हो, पर ये सच्चाई से भी बहुत दूर नहीं। कैलाश का मत है कि अदालत का वातावरण ही ऐसा होता है, जिसमें बिना पैसे लिये-दिये या बिना प्रयोजन किसी से बात करने को जी नहीं चाहता। कम से कम इस प्रश्न पर अब कैलाश से मेरा मतभेद कभी नहीं होगा।

नीलम

सम्पन्न और सौभाग्यशाली होते हुए भी भँवरलाल स्वभाव से भीरु हैं। अपने तीस वर्ष के जीवन में उन्होंने जो कुछ देखा है और जो कुछ अनुभव किया है, उसके आधार पर वे एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, जिसे वे जीवन का मूल मंत्र मानते हैं। वह यह है कि अहंभाव से अधिक से अधिक दूर रहा जाय। इस सिद्धांत की व्याख्या और अर्थ करते समय भँवरलाल स्वयं अपनी भी रियायत नहीं करते। इसकी व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—"जहाँ तक हो सके मानव को किसी भी मामले में निजी मत निर्धारित नहीं करना चाहिये। देश और काल के अनुसार जो उचित हो वही करना ठीक है।" भँवरलाल के मतानुसार सत्य-असत्य, नैतिक-अनैतिक; और भले-बुरे की स्वतंत्र रूप से परिभाषा असंभव है। जब तक परिस्थितियों का उल्लेख न किया जाय उनके विचार से परिभाषा का प्रश्न एकदम असंगत है।

भँवरलाल के क्या सिद्धांत हैं, किन बातों में उन्हें विश्वास है और किन बातों में नहीं, यह सवाल भी उनके लिये प्रासंगिक नहीं। निजी विश्वास और सिद्धांत का नाता भी उनकी दृष्टि में परिस्थितियों से ही जुड़ा है। इन्हीं को वे प्रबल मानते हैं। बुद्धिमान और मूर्ख में भेद इतना ही है कि एक परिस्थिति के तकाजे को समझता है और दूसरा नहीं समझता, या उसकी अवहेलना करता है।

कैलाश को और मुझे जीवन के प्रति भँवरलाल का दृष्टिकोण बहुत पसंद है। जब कभी उनकी बात सुनकर कैलाश भँवर-

लाल की पीठ ठोकते हैं तो भँवर बाबू शाबाशी स्वीकार करते हुए बड़े गर्व से कहते हैं—"जीवन का यह सारा प्रपंच उच्छृङ्खल है। भवसागर में मानव उच्छृङ्खलता के सहारे ही किनारे लग सकता है। अगर आवश्यकता से अधिक सोचेगा और गम्भीरता को गुण समझ उसका आश्रय लेने का यत्न करेगा तो दस में से आठ योग उसके डूबने का ही है।"

जब कभी भी हम तीनों इकट्ठे होते हैं तो ज्योतिष के सम्बन्ध में बड़ी चखचख रहती है। ज्योतिष कैलाश का व्यसन है और भँवरलाल की चिढ़। कैलाश सोचते हैं कि जो आदमी अतीत और वर्तमान से मर पाया हो उसके लिए भविष्य की चर्चा एक आकर्षक 'रोमांस' है। ज्योतिषी लोग सच्चे हैं या झूठे इसकी उन्हें अधिक चिन्ता नहीं। उनके लिए तो उन क्षणों का मूल्य है, जब बातचीत का विषय भविष्य रहता है।

भँवर बाबू इससे कहीं अधिक यथार्थवादी हैं। भविष्य के सम्बन्ध में वे कोई मत कभी प्रकट नहीं करते। ज्योतिषी से भेंट ही उन्हें कुछ सोचने का अवसर देती है। उन्होंने ज्योतिष की कभी निन्दा नहीं की, परन्तु कभी किसी ज्योतिषी का सत्कार भी नहीं किया। वे अक्सर कहते हैं—"मैंने दो तरह के ही ज्योतिषी देखे हैं। एक तो वे जो सन्दूकची उठाये, कंधे पर सफेद तौलिया डाले, बाजारों और दफ्तरों में घूमते-फिरते हैं और थक जाने पर किसी भी पेड़ के नीचे बैठ जाते हैं। ऐसे ज्योतिषियों से मैंने कभी बात नहीं की, क्योंकि मैं जानता हूँ, उनसे दो-चार मिनट बात करने का अर्थ जेब से पैसे निकालना होगा। ऐसे लोगों में मेरी श्रद्धा कैसे हो सकती है, जो बिना कुछ दिये दूसरे की जेब कतरने पर तुले हों।"

रहा ज्योतिषियों का दूसरा वर्ग, उसके सम्बन्ध में भँवरलाल के विचार बहुत रोचक हैं। उन्हीं के शब्दों में सुनिये—"ये लोग प्रेमी सज्जन होते हैं, देखने में विद्वान्, बोलने में मीठे और भविष्य-चर्चा में संकोची। इस वर्ग के एक सज्जन की मुझ पर विशेष कृपा रही है। मैं सोचता हूँ, यह महानुभाव आदर के निश्चय ही अधिकारी हैं; परन्तु श्रद्धा के नहीं। सभी को वे कुछ न कुछ प्रदान करते हैं। किसी का भविष्य उज्जवल बताते हैं। मुझे भी उन्होंने एक दिन बहुत कुछ बताया; परन्तु मैं किसी भी बात पर ईमान न ला सका। ज्योतिषीजी बेचारे स्वयं फटेहाल रहते हैं। जो आदमी औरों के भाग्य की कोठरी खोल सकता है, वह अपने भाग्य की कोठरी की चाबी कहाँ खो बैठा? इसलिये जब ज्योतिष की बातचीत होती है, तो मैं चुप रहना ही ठीक समझता हूँ। ज्योतिषशास्त्र वास्तव में कोई विज्ञान है या नहीं, इस प्रश्न पर मैंने गम्भीरता से कभी विचार नहीं किया।"

दो वर्ष हुए गंगा स्नान के लिए कैलाश, भँवरलाल और मैं हरिद्वार जा पहुँचे। एक रोज शाम को गुरुकुल की तरफ घूमने जा रहे थे कि अचानक रास्ते में पंडित केशवानन्द मिल गये। मुझसे और कैलाश से पंडित जी खूब परिचित थे। भँवर बाबू से भी उनका परिचय कराया गया। केशवानन्दजी उस प्रदेश के माने हुए ज्योतिषी हैं। कैलाश उन्हें देख गुरुकुल जाना भूल गये और हम लोग आप ही आप पंडित जी के पीछे हो लिये। एक घंटे तक कैलाश से बातचीत करने के बाद केशवानन्द जी ने भँवरलाल की तरफ देखा और कहा—"आपने बड़ी अच्छी प्रकृति पाई है! चाहे जो कुछ हो जाय परन्तु चिन्ता के आपको कभी दर्शन नहीं होंगे। आपका सूर्य उच्च का है। प्रायः सभी ग्रह

बहुत सुन्दर पड़े हैं, बस शनि के सम्बन्ध में मुझे कुछ सन्देह हो रहा है। यदि आपका जन्मपत्र मिल जाय तो देखने में बहुत आनन्द रहे।"

ऐसे समझदार ज्योतिषी से भँवरलाल का कभी टाकरा नहीं हुआ था। उनके सम्बन्ध में जो कुछ केशवानन्दजी ने कहा था उसमें काफी सचाई थी। भँवर बाबू पर उनका रोब छा गया। जीवन में पहली बार उन्होंने ज्योतिषी की ओर आदरपूर्वक निहारा और नम्रता से निवेदन किया कि जन्मपत्र दिल्ली में पड़ा है; परन्तु कैलाश ने यह कमी पूरी कर दी। जैसे रोगी आधा डाक्टर बन जाता है, उसी प्रकार लोगों को हाथ दिखाते-दिखाते कैलाश स्वयं छोटे-मोटे ज्योतिषी बन गये हैं। कागज और पेंसिल ले उन्होंने तुरन्त लकीरें खींचनी शुरू कर दीं। खानों में हिन्दी वर्णमाला के उल्टे-सीधे अक्षर डाल कागज केशवानन्द-जी के हवाले किया। भँवर बाबू का जन्मपत्र तैयार था। कैलाश की स्मरणशक्ति और ज्योतिष में रुचि इतनी अधिक थी कि जो जन्मपत्र उन्होंने एक बार देख लिया उसे वे कभी नहीं भूलते थे। भँवर बाबू तो उनके घनिष्ट मित्र ठहरे।

दस मिनट तक केशवानन्दजी ने ध्यान से जन्मपत्र देखा। इसी बीच में तरह-तरह के हिसाब-किताब लगाये। गम्भीर मुद्रा बना कर पेंसिल को कान में लटका के बोले: "मैंने ठीक ही कहा था। सूर्य निस्सन्देह आपका ऊँचा पड़ा है; परन्तु शनि नीच का है। दूसरे अच्छे ग्रहों के प्रताप से कदाचित शनि भयभीत हो चुप बैठ रहता है। सर्प की भाँति कुंडली मार कर इस घर में राहु जो बैठ गया है, यह आपको अच्छे ग्रहों का फल नहीं भोगने देता। इस एक निकृष्ट ग्रह ने शुभ ग्रहों को निस्तेज कर दिया है, अपने जीवन में मैंने सहस्रों कुंडलियाँ

देखी होंगी; परन्तु ऐसे निश्चित ग्रह बहुत कम देखे हैं। ऐसी ही कुंडली अयोध्याजी के राजा प्रतापनारायण की थी। जहाँ तक मुझे याद है कलकत्ते के सेठ बनवारी लाल के ग्रह भी इसी प्रकार के थे। इन दोनों सज्जनों की कुंडलियों का मैंने महीनों अध्ययन किया। तब जा कर कहीं राहु और शनि का प्रकोप शान्त कर पाया। मैं दावे से कह सकता हूँ, कि आप भी उसी असाधारण वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं।"

केशवानन्दजी के शब्दों का जादू भँवरलाल के ऊपर बुरी तरह चढ़ा। उनके कथन के सामने भँवरलाल के सिद्धांत, विचार तथा जीवनदर्शन सभी धूमिल पड़ गये। जिस श्रद्धा और तन्मयता से वे ज्योतिषीजी की तरफ देख रहे थे, उससे उनके भीतरी विचारों का साफ पता चलता था। उनकी दृष्टि केशवानन्दजी पर टिकी थी; परन्तु आँखें तनिक छत की तरफ थीं, मानो वे कल्पना कर रहे हैं कि सामने दीवार पर रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी का जो चित्र लगा है, वास्तव में वह रामायण का दृश्य नहीं। असल में वह कलकत्ते के धनाढ्य वर्ग का चित्र है जिसमें तीन व्यक्ति विराजमान हैं, दायीं ओर राजा प्रतापनारायण, बाईं तरफ सेठ बनवारी लाल और बीच में बाबू भँवरलाल। इस विचार-धारा के प्रवाह में भँवर बाबू अपने आपको बिल्कुल भूल चुके थे।

केशवानन्दजी के चुप होते ही उन्होंने जो कुछ कहा उससे मैं चकित रह गया। कैलाश की प्रतिक्रिया कुछ भिन्न थी। उनकी मुद्रा में आश्चर्य का पुट कम था और हँसी का अधिक। भँवरलाल ने विनम्र भाव से ज्योतिषीजी के प्रवचन का इस प्रकार उत्तर दिया—"आपकी कृपा के लिए बहुत आभारी हूँ। इन शब्दों को आप उपचार

पद न समझूँ। आपने तो मेरी विचारधारा ही बदल डाली है। आज पहली बार ज्योतिष में मेरा विश्वास जमा है। इसका एकमात्र कारण मैं समझता हूँ कि मुझे सच्चे ज्योतिषी के दर्शन आज ही हुए हैं। अभी तक जो लोग मिले वे केवल अड़पोपो थे। आपका ज्ञान असाधारण है और प्रतिभा अलौकिक। अब मैं ज्योतिष का कायल हो गया हूँ। कृपा करके मेरे ग्रहों पर कुछ और प्रकाश डालिये और शनि के शमन के कुछ उपाय बताइये। जिन महानुभावों की कुंडलियों से आपने मेरे जन्मपत्र की तुलना की है वे तो बहुत बड़े आदमी होंगे। मैं बहुत साधारण स्थिति का आदमी हूँ, फिर भी जो उपाय आप बतायेंगे उस पर कार्य करने का भरसक प्रयत्न करूँगा।"

यह सुन कर पंडितजी बहुत प्रसन्न हुए। भगवान को स्मरण करते हुए गदगद हो बोले—"ऐसे असाधारण ग्रहों वाले व्यक्ति का यही लक्षण है। आपके आश्वासन और तत्परता द्वारा मेरे निदान की पुष्टि हो गई है। मुझे याद है १९३८ में कुम्भ के बाद सेठ बनवारी लाल ने भी ठीक यही प्रश्न किया था। उस समय मुझे बहुत समय तक ग्रहों का अध्ययन करना पड़ा और अनुकूल उपायों का पता अनेक अनुष्ठानों के बाद ही लग सका, परन्तु अब स्थिति सहल है। बारह साल पहले जो परिश्रम किया था उसका फल हम आज भी भोग सकते हैं। इसलिये यदि कुछ करने की आपकी इच्छा हो तो शनि से पिंड छुड़ाने के लिये मैं आपको दो उपाय बताऊँगा। कुछ अनुष्ठान तो ऐसे हैं जो आपके कल्याण के हेतु मुझे करने पड़ेंगे। एक काम आपको करना होगा। आपको अपने शरीर पर नीलम धारण करना पड़ेगा। चाहे तो आप उसे धागे से भुजा पर बाँध लें, चाहे अँगूठी में डाल कर

पहन लें। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई नीलम की परख है। बाजार में कई प्रकार के नीलम बिकते हैं। कौन जाने आपके लिये कौन-सा उपयुक्त होगा। इसका पता केवल परीक्षण से ही लग सकता है। उपयुक्त नीलम आठ घंटे के अन्दर चमत्कार दिखा देगा। जब निश्चयपूर्वक उपयुक्त नीलम का पता लग जाय तो उसे आप खरीद लें, उसी दिन अन्तिम अनुष्ठान के बाद आप यहाँ से प्रस्थान कर सकेंगे। मुझे तो, श्रीमान्‌जी, यही कुछ आता है। चालीस वर्ष के अध्यवसाय और चिन्तन द्वारा मैंने रत्नों को साधा है और मैं उन्हीं का उपासक हूँ। रत्नों से ही प्राणिमात्र के सब क्लेश दूर किये जा सकते हैं। मेरा यह निश्चित मत है कि पृथ्वी आज रत्नों के प्रताप से ही स्थिर है। यदि भूगर्भ में रत्न न होते तो मानव जाति के पापों और कलयुग के कलुषित कारनामों ने अब तक भूमि को न जाने कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया होता। रत्नों के प्रताप से ही हम ग्रहों की कठोरता का निवारण कर सकते हैं।"

केशवानन्दजी मुश्किल से समाप्त कर पाये थे कि भँवरलाल एक-दम बोल उठे, मानो उनके विचार उबाल खा रहे थे और उनकी जिह्वा पर भार बने हुए थे। पंडितजी की बात और रत्न सम्बन्धी उनका सिद्धांत भँवरलाल को एक ठोस वैज्ञानिक तथ्य जान पड़ा। उन्होंने सोचा धातु और मणियाँ आखिर एक ही जाति के द्रव्य हैं। जब धातुओं में असीम शक्ति है तो मणियों में तो उससे भी अधिक होगी। भँवर बाबू को उस समय केशवानन्द आधुनिक संसार से पचास वर्ष आगे बढ़े हुए दिखाई दिये। उनके सामने आजकल के भौतिक विज्ञानवेत्ता तथा अणु-विशेषज्ञ भी भँवरलाल को अबोध बालक से बढ़ कर और कुछ नहीं जान पड़े। आँखें बन्द कर भक्ति भाव से भँवर बाबू

ने कहा—

"आपका एक-एक शब्द सत्यवचन है। यह आपकी परम उदारता है कि आप अपनी सिद्धि को प्रसन्नतापूर्वक विश्व-कल्याण का साधन बनाते हैं। मैं इतना अधम नहीं, न ही इतना मूर्ख हूँ कि आपके आदेश का पालन न करूँ। आप अनुष्ठान कीजिये और मैं नीलम की खोज में निकलता हूँ।"

इसके बाद हम लोग खड़े हो गये। चलते-चलते हमने पंडितजी को कहते सुना कि हरिद्वार में रत्नों का अच्छा व्यापारी एक ही है। उसका अता-पता उन्होंने कई बार दोहराया। ज्योतिषीजी को प्रणाम कर हम लोग सीधे बाजार चले गये। उसी दुकान पर जाकर बहुत से नीलम देखे और उनमें से एक छाँट लिया। हमने वह नीलम खरीदा नहीं, बल्कि कुछ जमानत देकर एक दिन के लिए ले लिया। अगले ही दिन, गंगाजल और दूध में धोकर भँवरलाल जी ने उसे काले धागे में लपेट कर अपनी भुजा से बाँध लिया।

भँवरलाल उस दिन बदले हुए से दिखाई देने लगे। वे किसी बहुत बड़ी घटना की प्रतीक्षा में थे। कभी अचानक दरवाजे की तरफ झाँकते, कभी बैग में पड़ी पुरानी चिट्ठियों को निकालकर पढ़ते और कभी झूठमूठ आँखें मींच कर सोचने का अभ्यास करते। पर उद्विग्न मन को चैन कहाँ? वे किसी अज्ञात, अदृष्ट चीज की ऐसी प्रतीक्षा कर रहे थे जैसे बेचैन मुसाफिर रेलगाड़ी का इन्तजार करते हैं। सारा दिन बीत गया पर कुछ भी न हुआ। मन में हलकी-सी निराशा लिये हुए भँवर बाबू रात को चुपचाप सो गये। प्रातःकाल सबसे पहले उन्हीं की आँख खुली। उठते ही उन्होंने कैलाश को और मुझे जगाना

शुरू किया। कैलाश ने चादर से बाहर सिर निकाला तो भँवर बाबू को चिल्लाते हुए सुना। उनका बटुवा गुम हो गया था। सोने से पहले वह उनकी कमीज़ की जेब में था। हर रोज की तरह कमीज़ निकालकर उन्होंने खूँटी पर लटकाई थी। जग उठे तो कमीज नीचे गिरी पड़ी थी और बटुवा गायब था।

हम सब बड़े हैरान हुए। हम तीनों के सिवा और कोई कमरे में आया ही नहीं था। बटुवा कौन ले जा सकता था। मैंने भँवर बाबू से पूछा सोने से पहले उन्होंने दरवाजा तो बन्द कर दिया होगा। जब उन्होंने 'नहीं' कहा तो मुझे ध्यान आया कि रात को जरूर कमरे में बन्दर आये होंगे। हरिद्वार के बन्दर आदमियों से भी अधिक समझदार हैं। कोई आश्चर्य नहीं अगर उन्होंने बटुवा निकाल लिया हो और कमीज वहीं छोड़ गये हों। कैलाश ने पूछा कि बटुवे में क्या था। यह सुनते ही भँवरलाल ने चीख मारी और रोते-रोते कहा—"उसमें तो सभी कुछ था, छः सौ रुपये के नोट थे, दो प्रोनोट और कई एक जरूरी रसीदें थीं। भाई, मैं तो लुट गया, यह नीलम तो मुझे हाथ करके ले गया। अब मैं कहीं का नहीं रहा।"

कैलाश ने उन्हें सांत्वना दी और सलाह दी की सब लोग पंडितजी के पास चलें। यह नीलम का ही उत्पात जान पड़ता है। रत्नों के उपासक पंडितजी ही इस कष्ट का निवारण कर सकते हैं।

मुँह-हाथ धो हम लोग सीधे पंडित केशवानन्दजी के पास पहुँचे। सारी बात सुनकर उन्होंने भँवरलाल को विश्वास दिलाया कि सब करामात नीलम की ही है। "अजी प्रतिकूल रत्न अंगारे के समान होता है। यही तो इनकी शक्ति का रहस्य है। आप घबरायें नहीं, लोहे की

तरह रत्न ही रत्न को काटेगा। इस नीलम को आप वापस कर दें और दूसरा लेते आवें। अन्त में कोई न कोई नीलम अनुकूल बैठेगा ही। बस जहाँ आपके शरीर से उसका स्पर्श हुआ उसी समय पौ-बारह है। सब घाटे पूरे हो जायँगे। फिर जीवन में सुख-ही-सुख है, और असीम धन।"

उसी रोज जाकर नीलम बदला गया। चार दिन तक बराबर यही क्रम रहा। कोई घटना न घटी। भँवरलाल पीले पड़ गये और प्रायः खामोश रहने लगे। पाँचवें दिन जो नीलम हमने लिया वह बहुत बड़ा था, रेवड़ी जितना। इससे हम सब में आशा का संचार हुआ घर लौट कर हमने खाना खाया। न जाने क्यों गन्ना चूसने की सूझी। सब लोग ऊपर छत पर चले गये। गन्ने और धूप का अच्छा मेल है। तीसरी मंजिल पर पहुँचते ही भँवरलाल कुछ उठाने के लिए एक तरफ लपके। "वाह! वाह! बटुवा मिल गया," वे उछल कर बोले—"यह जरूर बन्दरों की शरारत थी।" खोल कर देखा तो एक-एक चीज सही सलामत मिल गई। बस अब क्या था। नीलम की पूजा होने लगी। गन्ने चूसते ही फिर बाजार जाया गया। घंटों तकरार के बाद २५० रुपये में वह नीलम खरीद लिया गया।

अगले ही दिन भँवरलाल, कैलाश और मैं दिल्ली वापस आ गये। भँवर बाबू के रंग-ढंग फिर बदल गये। उनके लिए एक जगह स्थिर बैठना मुश्किल हो गया था। रुई के गाले की तरह वे इधर-उधर फुद-कते फिरते। उनके चेहरे पर एक विशेष गाम्भीर्य था जो अत्यन्त संतोष और निजी सौभाग्य का निश्चित ज्ञान ही दे सकता है। उन्हें विश्वास हो चला था कि अब उनका प्रारब्ध पलटा खा चुका है। जिस चीज़ में भी वे अब हाथ डालेंगे उसी में बरकत होगी।

कैलाश उन्हें बार-बार छेड़ते। कभी उनसे मिठाई खिलाने को कहते, कभी निजी खर्चे पर मंसूरी की सैर कराने को। पैसे के पीर होते हुए भी भँवरलाल हर बात में हाँ करते रहे। छः-सात दिन खूब जशन रहा। मँहगी से मँहगी मिठाइयाँ खाई गईं, सभी बढ़िया फिल्में देखी गईं। नीलमधारी मित्र ने खूब जी खोलकर हम लोगों की खातिर की। कैलाश के आग्रह पर उन्होंने १०१ रुपया केशवानन्दजी को भेज दिया। जो थोड़ा बहुत हरिद्वार में रहते समय दिया था, वह अलग रहा।

छः महीने तक नीलम ने कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखाया। भँवरलाल दिल्ली में खुर्जे के घी का व्यापार करते थे। धीरे-धीरे जैसे घी मँहगा होता गया उसकी बिक्री घटती गई। एक वह समय आया जब दिल्ली के लोग शुद्ध वनस्पति को खालिस घी कहने लगे; क्योंकि बिना मिलावट के वनस्पति खरीदने में वही दिक्कत पेश आने लगी जो कभी शुद्ध घी के खरीदने में आया करती थी। एक साल के अन्त तक, अर्थात् १९४९ के मध्य में भँवर बाबू का व्यापार बिल्कुल चौपट हो गया। वे बहुत चक्कर में पड़ गये। उन्होंने केशवानन्दजी से कई बार चिट्ठी द्वारा अनुष्ठान कराया, पर कुछ काम न बना। अब वे बहुत बेचैन से रहने लगे। कुछ समझ में न आता कि क्या काम करें।

एक दिन भँवर बाबू अपने मित्र, टेकचन्द सर्राफ के यहाँ बैठे थे। मित्र की दुकान में नीलम, पुखराज आदि कई तरह के हीरे देख उन्हें अपनी भुजा पर बँधे नीलम की याद आ गई। तुरन्त उन्होंने धागा ढीला कर नीलम उतारा और टेकचन्द को दिखाया। टेकचन्द ने पूछा कि यह उन्होंने कहाँ से लिया। इस पर भँवरलाल ने पिछले साल की सारी कहानी कह सुनाई। टेकचन्द ने माथे पर हाथ मारते हुए कहा—

"यह शीशे का टुकड़ा, जो तुम साल भर से बाँधे घूम रहे हो, चार आने में भी महँगा है।" इस पर भँवरलाल को बहुत क्रोध आया। जैसा कि हमें टेकचन्द से मालूम हुआ, उन्होंने मुझे और कैलाश को जी भर कर गालियाँ दीं। टेकचन्द बहुत सुलझे हुए सर्राफ हैं। भँवर बाबू का नीलम वापस करते हुए उन्होंने कहा—"मियाँ, क्रोध करने की कोई बात नहीं। सच्चे व्यापारी हो तो इससे कुछ सबक सीखो। मजा तब है, अगर तुम भी अब हीरों का व्यापार करो। जब हरिद्वार जैसे छोटे शहर में इस काम में इतनी कमाई है, तो दिल्ली का कहना ही क्या?"

दिल्ली के सभी प्रमुख ज्योतिषियों से परामर्श कर भँवरलाल ने सोने-चाँदी के आभूषणों और हीरों की एक बढ़िया दुकान खोली। दुकान में आभूषण तो केवल सजावट के लिए रखे थे, वास्तव में वे व्यापार हीरों का ही करने लगे। थोड़े दिनों में ही उनका व्यापार खूब चल निकला। यह काम उन्हें बहुत पसन्द आया। खूब अच्छी कमाई और दिन भर काम न धाम। महीने में आठ-दस हीरे बेचते और आराम से १०००रुपया कमा लेते। आजकल तो उनकी कमाई और भी बढ़ गई है। दो हजार मासिक तक हाथ मार लेते हैं। अब वे बहुत प्रसन्न हैं। जीते जी शायद हीरों को छोड़कर और किसी चीज का व्यापार नहीं करेंगे।

कैलाश और मुझ पर अब भी भँवर बाबू की कृपा-दृष्टि है। केशवानन्दजी के प्रति भी उनकी वही आदर की भावना है। न केशवानन्दजी नीलम के चक्कर में डालते और न भँवर बाबू को हीरों के व्यापार की सूझती। आज वे हैं, और इसका श्रेय पंडित केशवानन्द को देते हैं। अब वे फिर से धनी हो गये। ज्योतिष में उनकी अब पहले से अधिक आस्था है। ज्योतिषियों से वे अब भी मिलते हैं। अब में और पहले में अन्तर केवल एक ही है। पहले उन्होंने नीलम खरीदा था, अब वे नीलम बेचते हैं।

भाग्य-चक्र

हमारे मित्र कैलाश को इस बात का बड़ा गर्व था कि उन्होंने भाग्य को कभी मुँह नहीं लगाया। वे भाग्य या किस्मत को मानते ही नहीं थे। उनका कहना था कि किस्मत की रट वे ही लोग लगाते हैं जो स्वभाव से आलसी हैं और जिन्हें आपको धोखा देने का चस्का पड़ चुका है। मुझ जैसे साधारण कोटि के लोगों ने उन्हें बहुत समझाने का यत्न किया, पर वे मानने में ही नहीं आये। जब मैंने यह कहा कि दिल्ली के सभी ज्योतिषी आपके मित्र हैं और यदि आपका भाग्य में विश्वास नहीं तो आप उन्हें क्यों पालते हैं और बार-बार उन्हें हाथ और जन्मपत्री दिखाते हैं, तो कैलाश ने मुझे चुटकियों में उड़ा दिया। वे बोले—"पागलों की-सी बातें न करो। दिल बहलाने के लिए आदमी क्या नहीं करता। तुम जहाँ भी बढ़ई को काम करते देखते हो क्यों रुक जाते हो और पत्थर तोड़ते मजदूर को देखकर तुम्हें क्यों मजा आता है। तुम जानते हो कि ये काम तुम्हें कभी नहीं करने, फिर भी इन्हें देखने को तुम्हारा जी क्यों करता है? इसी तरह ज्योतिषी से बात करके मेरा मनोरंजन होता है।"

चलिये, बात आई गई हुई। मैं चुप हो गया। बहस में कैलाश से कौन लोहा ले? उन्होंने जिन्दगी भर यही काम किया है।

इधर कुछ दिनों से उनकी विचारधारा बिलकुल बदल गई है। इस परिवर्तन को देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। कई बार पूछने पर भी अब भाग्य के सम्बन्ध में उनका क्या मत है उन्होंने कोई

सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। मुझे याद आया कि कैलाश से बात करने का यह तरीका नहीं। गत रविवार को उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया। वे भी होशियार होते होंगे, पर इतनी समझ हममें भी है कि किससे कैसे बात की जाय। चुनांचे हमें अपनी योजना में पूर्ण सफलता मिली। इस विषय पर कैलाश से दो घंटे बात हुई और उनके दिल का सारा हाल जान लिया। उनकी बातें इतनी मजेदार थीं कि उन्हें अपने तक ही रखना अनुचित होगा। इसलिये जन साधारण के लाभ के लिए उन्हें लेखनी-बद्ध करता हूँ :

यह तो सब जानते ही हैं कि दिल्ली के बचे-खुचे रईसों में एक कैलाश भी हैं। उनके इस शहर में कई मकान हैं और काफी जायदाद भी। इन सबका हिसाब रखने के लिये उनके यहाँ तीन-चार मुंशी सदा रहते हैं। यह हिसाब का काम पहले मुंडी में होता था किन्तु जब से कैलाश तख्त पर बैठे और जायदाद के मालिक बने यह काम अंग्रेजी में होने लगा। कुछ दिन हुए उनका एक टाइपिस्ट नौकरी छोड़कर चला गया। इस रिक्त स्थान को भरने के लिए कैलाश ने कोई और टाइपिस्ट ढूँढ़ना चाहा। कई मित्रों से चर्चा की और दो-चार आदमी उनके यहाँ आये भी। परन्तु उनमें कोई ठिकाने का नहीं निकला। फिर उन्हें ध्यान आया कि टाइपिस्ट के लिए कामदिलाऊ दफ्तर से क्यों न कहा जाय। उन्होंने ऐसा ही किया। कामदिलाऊ दफ्तर ने उनके यहाँ चार आदमी भेजे और कहा कि परीक्षा के बाद उनमें से कोई एक छाँट लें। टाइप के काम में सभी एक-जैसे थे। अब कैलाश ने एक-एक को बुला कर बात करनी शुरू की। इनमें उजागरसिंह नाम का एक लड़का था। देखने में बड़ा चुस्त मालूम होता था।

कैलाश ने उससे पूछा,—"तुमने क्या काम किया है ?" उसने कहा, "एक काम किया हो तो बताऊँ, मैं तो तरह-तरह के पापड़ बेल चुका हूँ। पर किस्मत ने कहीं साथ नहीं दिया।"

किस्मत का नाम सुनकर कैलाश चौंक गये और बोले, "अच्छा दस मिनट में सारा किस्सा सुनाओ।" अब उजागर सिंह के चेहरे पर रौनक आ गई। सिर झुका कर धन्यवाद देते हुए उसने कहना शुरू किया :

"पाँच साल हुए मैंने मैट्रिक पास किया था। साल भर तक कोई काम नहीं मिला। अचानक डाकखाने में चिठ्ठियाँ बाँटने के काम के लिए भरती हो गया। मैंने अपना काम सदा मुस्तैदी से किया, पर यहाँ छः महीने से अधिक नहीं टिक पाया।"

आश्चर्य से कैलाश ने पूछा—"क्यों ?"

उजागर सिंह : "जनाब, किस्मत की बात है। एक दिन जब मैं आनन्द पर्वत पर चिठियाँ बाँट रहा था तो मुझे बहुत प्यास लगी। जून का महीना था, बला की गर्मी पड़ रही थी। देखते-देखते आँधी आ गई। चारों तरफ रेत ही रेत उड़ने लगा। प्यास लगी थी। जो सौ-पचास चिठ्ठियाँ मेरे हाथ में थीं उन्हें एक पार्सल के नीचे दबा कर मैं नल से पानी पीने लगा। दो मिनट बाद ही जब चिठ्ठियों की तरफ देखा तो वहाँ कुछ भी नहीं था। पार्सल एक कागज की नाव की तरह इधर-उधर लुढ़क रहा था और चिठ्ठियाँ सब उड़ चुकी थीं। पार्सल को काबू कर मैं चिठ्ठियों के पीछे भागा। मुश्किल से दस हाथ आईं और पचास के करीब खो गईं। डाकखाने में आकर मैंने इस दुर्घटना की रिपोर्ट दी। बिना कुछ कहे-सुने ही अगले दिन मुझे निकाल दिया गया। आप ही बतायें इसमें मेरा क्या दोष था।"

कैलाश—"अच्छा, और बताइये कहाँ काम किया ?"

उजागर सिंह—"इस दुर्घटना के एक महीने बाद ही मुझे फिलटन कम्पनी में नौकरी मिल गई। मेरा काम आगन्तुकों और ग्राहकों का स्वागत करना और टेलीफोन पर लोगों से बातचीत करना था। एक दिन मुझे जल्दी जाना था। कनाट प्लेस जाने के लिए मैंने बस पकड़ी। बस में बड़ी भीड़ थी। अधिकतर स्कूलों के बच्चे थे जिनकी उन दिनों परीक्षाएँ हो रही थीं। कैम्प कालेज के सामने चलते-चलते बस एकदम रुक गई। ऐसा धक्का लगा कि पाँच-छः बच्चे जो खड़े थे मेरे ऊपर आ गिरे। सबकी दावातों का निशाना मेरी कमीज और पतलून बन गये। मैं बुरी तरह रँगा गया। बच्चों से कैसे झगड़ता? यही कुछ कम न था कि उन्होंने स्याही के पैसे मुझसे नहीं माँगे। कपड़े बदलने घर जाने का भी समय नहीं था। मैं सीधा दफ्तर चला गया और टेलीफोन के पास अपनी कुर्सी पर जा डटा। तुरन्त ही डायरेक्टर साहब का फोन आया। उन्होंने कहा कि कम्पनी के मालिक फिलटन साहब कलकत्ते से आये हुए हैं और ग्यारह बजे दफ्तर पहुँचेंगे। दो आगन्तुक आये हुए थे। मैं उनसे बात करने में लग गया। वे बाहर गये ही थे कि कमरे की चिक एकदम उठी और डायरेक्टर साहब ये शब्द बोलते हुए अन्दर आये—'उजागर सिंह, हमारे दिल्ली आफिस के रिसैपशनिस्ट.......।'

'मूलर साहब ने जब मेरे कपड़ों को देखा तो क्रोध के मारे तिल-मिला उठे और मुँह का वाक्य अधूरा छोड़कर ही बाहर चले गये। दस मिनट बाद ही मुझे डायरेक्टर साहब ने बुलाया और बोले—'देखो उजागर सिंह, खजानची बाबू को हमने कह दिया है, उनके

पास जाकर अपना हिसाब कर लो और कल से इधर मत आओ। हमें गन्दा रिसैपशनिस्ट नहीं चाहिये। इसलिये कि तुम लोग साफ रहो हम तुम्हें वर्दी देते हैं। वर्दी को भी तुमने इतना गन्दा कर डाला है। जरा देखो तो तुमने इस पर कितनी स्याही गिराई है। यह सब तुम्हें आज ही करना था जबकि कलकत्ते से मालिक आये हुए हैं। जाओ।"

उजागर सिंह कहता गया—"अब जनाब, आप ही बताएँ कि इसमें मेरा क्या कसूर था। अगर घर कपड़े बदलने जाता तो समय पर न पहुँचने के कारण डाँट-फटकार पाता और जब अपने काम पर जा पहुँचा तो मेरा यह हाल हुआ।"

कैलाश कुछ सोच में पड़ गये। उजागर सिंह ने इसी तरह के दो-तीन किस्से और सुनाये। कैलाश जो असहायों की सहायता करके सदा अपने आपको धन्य मानते हैं, इन बातों से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते थे। उन्होंने सोचा अगर मैंने इस आदमी को स्वीकार नहीं किया, तो इस असफलता को वह अपने पूर्व ग्रहों के खाते में डाल देगा। इसी प्रकार मनुष्य भाग्यवादी बन जाता है और भाग्यवादिता का प्रचार होता है। मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा।

चुनांचे भाग्यवाद से मोर्चा लेने के उद्देश्य से कैलाश ने उजागर सिंह को अपने यहाँ नियुक्त कर लिया। इस बात को छः महीने होने को आये हैं। उजागर सिंह के काम को कैलाश बहुत सन्तोषजनक नहीं समझते, परन्तु उसे जवाब देने से जी चुराते हैं। वे उसके तथाकथित ग्रहों को झूठा करने पर तुले हुए हैं। इधर उजागर सिंह द्वारा वर्णित घटनाओं पर भी वे विचार करते रहते हैं। वह इतना बुरा नहीं कि उसको कहीं काम ही न मिले, फिर भी वह किसी जगह नहीं टिक पाया।

भाग्यवाद से जूझते-जूझते अब कैलाश स्वयं इस वाद की ओर झुक गये हैं। उन्हें विश्वास होने लगा है कि मनुष्य के अधिकार में केवल कर्म ही है, इसका फल क्या होगा, यह कोई नहीं बता सकता। अब गीता में भी कैलाश की दिलचस्पी बढ़ गई है। आशा है, निकट भविष्य में ही वे अपने आपको पूर्ण भाग्यवादी कहने लगेंगे और निस्सं-कोच उजागर सिंह से पिंड छुड़ाने की चेष्टा भी कर सकेंगे।

किसी और से न कहना

ख्याल तो यह था कि केदारजी के साथ तमाम दिन घर पर ही बिताया जायगा। आराम से बैठेंगे, आम खायेंगे और डटकर शतरंज की बाजी लगेगी। उनसे मिले हुए भी मुद्दत हो चुकी थी। इसीलिए शुक्रवार के दिन मैंने केदारनाथ को टेलीफोन कर दिया कि वे सपरिवार रविवार को हमारे यहाँ आयें और यहीं भोजन करें। एक बहाना यह भी था कि सहारनपुर से आमों के दो टोकरे आये हुए थे। आमों के टोकरों का जिक्र करना था कि केदार फिसल गये। उन्होंने मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया और यह तय पाया कि वे सुबह आठ बजे मेरे घर आ जायँगे।

केदार वादे के पक्के निकले। ठीक आठ बजकर दस मिनट पर अपनी पत्नी और नन्हें-मुन्ने समेत आ पहुँचे। कुछ देर बात करने के बाद ही सहारनपुर के आमों की चर्चा छिड़ गयी। मैंने नौकर से कहा कि एक टोकरा बाहर बरामदे में लेता आये; परन्तु मेरे बच्चे आग्रह करने लगे कि आम खाने का मजा घर पर नहीं आयेगा। सौभाग्य से दिन भी बहुत सुहावना था। आकाश में चारों तरफ बादल उमड़ रहे थे और सूरज की किरण कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती थी। विचारों ने एकदम पलटा खाया और बच्चों का प्रस्ताव एकमत से सब ने स्वीकार कर लिया। चुनांचे नामी स्टूडीबेकर बाहर निकाली गयी। खाने-पीने का सब सामान उसमें रख दिया गया और दोनों परिवार आराम से बैठ गये। बच्चों के आदेश के अनुसार हम लोग तुगलकाबाद जा पहुँचे और वहाँ के विशाल खंडहरों के बीच जा डटे। सभी पिकनिक की

भावना से ओतप्रोत थे।

हमारे उत्साह का पहला शिकार आमों का टोकरा था। इतने आम खाये गये कि खाना खाने को किसी का दिल नहीं किया। फिर सब लोग दो-दो, तीन-तीन के दलों में इधर-उधर विचरने लगे। संयोग से मैंने अपने आपको केदार के साथ पाया। महिलाएँ और बच्चे अलग घूम रहे थे। सिगरेट पीते हुए हम दोनों मजे से टहल रहे थे। दुनिया-भर की बातें हुईं। फिर दोनों चुप हो गये। ऐसा जान पड़ा मानों अब कोई बात करने को नहीं रह गयी। केदार के कन्धे पर हाथ मारते हुए मैंने कहा—"यार, कोई मजेदार बात सुनाओ। आजकल कामकाज का क्या हाल है। कहीं से कोई गफ्फा हाथ लगा या नहीं।"

केदार के चेहरे की रंगत एकदम बदल गयी। जहाँ पहले फीका-फीका पीलापन था अब अरुणाई नाचने लगी। आँखों में ज्योति चमकती दिखायी दी। मैं अपने मित्र को खूब जानता हूँ। अनुकूल वातावरण में, जब उनके पेट में अच्छे पदार्थ हों तो जरा-सा छेड़ देने मात्र से उनकी उत्प्रेरणा का स्रोत फूट पड़ता है। जिस समय मेरे सवाल का उत्तर देने के लिए उन्होंने मुँह खोला मुझे ऐसा लगा मानों बिजली का स्विच दबा बैठा हूँ और अब आप ही आप मशीन चलने लगेगी। वे बोले—'भाई, बात यह है कि इधर हफ्तों से तुमसे मिलना नहीं हुआ। एक खास बात तुमसे करनी थी जो मैं अब तक किसी और से नहीं कह सका। तुम जानते हो कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो हरएक से नहीं कही जा सकतीं और एक-दो चुने हुए मित्रों को ही बताई जा सकती हैं। तुमसे मिलना नहीं हुआ, इसलिए यह बात अब तक होठों पर नहीं ला सका।"

मैं योजना के अनुसार वैसे ही बहुत कुछ सुनने को तैयार था, केदार की भूमिका से और भी उत्सुक हो गया। "बोलिये न", मैंने कहा। "इससे अच्छा मौका कब मिलेगा। अब न किसी के आने का डर है न टेलीफोन की घण्टी का भय। जल्दी बताइये, वह क्या है।"

बड़ी तसल्ली से जिस प्रकार सभाओं में सभापति भाषण करते हैं, केदारजी बोले—"तुम बीस साल पुराने मित्र हो। यह कहना आवश्यक तो नहीं, फिर भी कह देता हूँ, कि यह बात किसी और से न कहना। बात अक्सर मुँह से निकल जाती है, इसलिए तुम्हें सावधान कर रहा हूँ। भगवान न करे अगर बात फैल गयी तो अनर्थ हो जायगा, बना बनाया खेल बिगड़ जायगा। सुनो, मैं अगले महीने ही बर्मा जा रहा हूँ। जिस फर्म में मैं काम कर रहा हूँ उसकी एक बहुत बड़ी शाखा रंगून में थी। वहाँ हमारा लाखों का काम था। लड़ाई के दिनों में सब काम चौपट हो गया। ख्याल है कि बदली हुई स्थिति में पुराने काम को फिर हाथ में लेकर रंगून शाखा को पुनर्जीवित किया जा सकता है। मैंने अपने डाइरेक्टर मिस्टर मैकैन्जी से बात की है, उन्हें बताया है कि रंगून शहर में एक दर्जन से ऊपर मेरे मित्र और पुराने सहपाठी रहते हैं। वे मेरी बात से प्रभावित हुए हैं और उन्होंने वादा किया है कि अगले महीने से मुझे वहाँ भेज देंगे। मुझे रंगून की शाखा का इंचार्ज बना दिया जायगा। यह शतप्रतिशत निश्चय है, फिर भी जब तक मैं वहाँ पहुँच न जाऊँ बात फैलनी नहीं चाहिये, नहीं तो और लोग भी हाथ-पैर मारने लगेंगे।"

केदार की बात से मुझे बहुत खुशी हुई। मैंने उन्हें बधाई दी और कसकर हाथ मिलाया। इसी बीच हमारे बच्चे और पत्नी हमसे आ

मिलीं। फिर हम खँडहरों, मकबरों और उनमें सोये पड़े राज-परिवारों की बातें करने लगे।

दिनभर आनन्द करने के बाद हम लोग तीसरे पहर घर लौटे। शाम की चाय घर पर ही पी। सब इकट्ठे चाय पीना चाहते थे, पर घर में कुर्सियों की कमी थी, इसलिए मेरी पत्नी और मैं पलँग पर बैठ गये। केदारजी तकल्लुफ करने लगे और उठ खड़े हुए, मेरी पत्नी से बोले—"आप यहाँ बैठिये, मैं हेमन्त के साथ पलँग पर बैठ जाऊँगा।" मेरी पत्नी ने उनकी बात स्वीकार की; परन्तु वे बहुत लजायीं कि घर में इतनी कुर्सियाँ नहीं जितनी होनी चाहिये। उनके दिल की बात समझते हुए केदार ने कहा—"आपके घर में तो फिर भी इतनी कुर्सियाँ हैं, मेरे यहाँ इससे आधी भी नहीं। यह बरेली का काला-पीला फर्नीचर मुझे पसन्द नहीं। ईश्वर ने चाहा असली बर्मा टीक का फर्नीचर जल्दी ही तैयार कराऊँगा।"

यह कहकर केदार चुप हो गये और सब लोग चाय पीने लगे। उनका संकेत सिवा मेरे किसी की समझ में न आया।

कुछ दिन बाद मेरा 'वोल्गा' में जाने का इत्तिफाक हुआ। वहाँ बैठते ही मेरे कानों में किसी की आवाज पड़ी जो परिचित जान पड़ती थी। धीरे से उठकर मैंने पीछे देखा तो केदारजी किसी के साथ बैठे चाय पी रहे थे। हम एक ही सोफे पर बैठे थे जिसकी पीठ काफी ऊँची थी। उसके एक तरफ मैं था और दूसरी तरफ केदार और उनके साथी। उन्होंने मुझे नहीं देखा था। मैं चुपचाप बैठ गया परन्तु मेरे कान बरा-बर सोफे की पीठ पर लगे रहे। केदार और उनके मित्र घुलमिलकर बातें करने में व्यस्त थे। मैंने केदार को कहते सुना—"सुरेश, एक बात

तुमसे कहूँ, इस शर्त पर कि किसी और से न कहो। हम तो अब दिल्ली में मेहमान हैं। कुछ दिन तक ही रंगून जा पहुँचेंगे। न जाने वहाँ से फिर कब आना हो। मुझे वहाँ की शाखा का काम सँभालना है। अभी तक सारी बात गोपनीय है, मगर तुमसे कहने में क्या हर्ज है। बस यही ख्याल रखना बात तुम्हीं तक रहे।"

ये रहस्य की बातें सुनकर मुझे सहसा हँसी आई और फिर क्रोध भी। केदार को अच्छी तरह जानते हुए भी मैं यह आशा नहीं करता था कि जिस बात को वे गोपनीय समझते हैं उसका स्वयं ही ढिंढोरा पीटते फिरेंगे। जल्दी से चाय समाप्त कर मैं वोल्गा से घर चला गया। घर पहुँच कर पता लगा कि मेरे मित्र कैलाश आये थे और नौ बजे रात को फिर आयेंगे। नौ के बजाय वे साढ़े आठ पर ही आ धमके और हम दोनों साथ बैठकर खाना खाने लगे। मैं दिल में सोच रहा था कि केदार का रहस्य कैलाश से खोलूँ या न खोलूँ, पर कैलाश इतने बातूनी हैं कि दूसरे को बोलने का मौका कम देते हैं। मैं चुपचाप उनकी राम-कहानी सुनता रहा। सहसा उन्होंने केदार की बातें शुरू कीं तो मैं चौंका, उन्होंने कहा—"जान पड़ता है बहुत दिनों से तुम्हारा केदार से मिलना नहीं हुआ। मैं कल ही उनके यहाँ गया था। उनके अब पौ-बारह हैं। पता है तुम्हारा दोस्त बड़े ऊँचे पद पर रंगून जा रहा है। बस साल भर में लखपति बना समझो। अभी कुछ थोड़ी-सी कसर है। इसलिए उन्होंने बहुत रुक-रुककर बात की। हो सकता है बात के फैल जाने से उनका नुकसान हो। इसलिए मैं चाहूँगा कि फिलहाल तुम भी इसे अपने तक रखो।"

यह उपदेश सुनकर मुझसे न रहा गया। कुछ न कहने की इच्छा

होते हुए भी मैं चुप रह न सका। मैंने कहा—"अजी रहने दीजिये, जो गुप्त बात केदार ने तुम से कल कही उसका मुझे दस दिन से पता है। उनकी उन्नति से हमें बैर नहीं। मैं तो चाहता हूँ भगवान उन्हें लखपति के बजाय करोड़पति बना दें। आखिर इससे हमारा-तुम्हारा लाभ ही होगा, लेकिन यह संकोच की चाशनी समझ में नहीं आती। उन्होंने मुझसे बात की संकोच के साथ, तुमसे जो कुछ कहा वह भी संकोच के साथ और आज ही मैंने उन्हें एक होटल में सारी बात एक मित्र से कहते सुना, तब भी उन्होंने संकोच का आडम्बर खड़ा किया। भगवान जाने उन्होंने कितने आदमियों से बात की है और संकोच के बीज कहाँ-कहाँ बोये हैं। प्रभु उनका कल्याण करें, हम तो यही मना सकते हैं, और कोई सलाह उन्हें नहीं दे सकते।'

इस बात को मुश्किल से दो दिन ही हुए थे कि स्थानीय पत्र में एक समाचार पढ़कर मैं स्तब्ध रह गया। समाचार यह था—

प्रसिद्ध व्यापारी फर्म मैकन्जी ऐण्ड संस की शाखा निकट भविष्य में बर्मा में खुलने जा रही है। युद्ध से पहले भी इस फर्म का रंगून में बहुत बड़ा कार्यालय था....पता लगा है कि रंगून शाखा का कार्य-भार श्री केदारनाथ सम्भालेंगे।

अब गोपनीयता अथवा संकोच का स्थान ही कहाँ था। चारों तरफ मित्र लोग केदार को बधाई देने लगे। केदार इस स्थिति से बहुत घबरा गये। उनका हित अब भी इसी में था कि यह बात प्रकाश में न आये। यह समाचार-पत्रों में देख उनके पाँव तले की ज़मीन निकल गयी। बात यह हुई कि अपने भोलेपन में केदार ने दिल की बात कई मित्रों से कह डाली। केदार का दुर्भाग्य कि उनमें एक पत्रकार भी थे। इन

महाशय से भी बात पूरे संकोच और रहस्य के साथ की गयी थी। परन्तु पत्रकार पत्रकार पत्रकार ही होता है। उसकी दृष्टि पैनी होती है और वह दूरदर्शी भी होता है। जैसे डाक्टर रोगी के रोने-धोने की परवाह न करके चीड़फाड़ कर डालता है, उसी प्रकार पत्रकार भावुकतापूर्ण आग्रह, झूठे मोह और भवबन्धन से ऊपर उठ निर्भीकतापूर्वक सच्ची बात को प्रकाश में ले आता है। बेचारे रामकृष्ण ने भी यही किया। केदार का आग्रह उनसे भी यही था कि किसी और से न कहना, परन्तु यह समझना कि कैलाश अथवा सुरेश और रामकृष्ण में कोई अन्तर नहीं केदार की नासमझी थी।

जब कैलाश को साथ ले केदार मुझे मिले तो यह भेद मैंने उन्हें समझाना चाहा। मेरी मेज पर कुछ जस्ते के तार पड़े थे। उनको हाथ में उठाते हुए मैंने कहा—"देखिये, ये तार कितने निर्जीव और कोमल हैं। आप चाहें तो इनका गोरखधन्धा बना लें और चाहें तो इन्हें गुच्छे की तरह लपेट लें। (पंखे की तरफ इशारा करके) वह तार भी इन्हीं तारों जैसा है। परन्तु अगर किसी ने उसको छुआ तो उसे अकारण ही नाचना पड़ेगा। समझे आप, दोनों में यही अन्तर है। अब जो हुआ सो हुआ आगे को ध्यान रखें।"

केदार के रंगून जाने का समाचार चारों तरफ फैल गया जिसके कारण कई और व्यक्ति मैदान में आ गये। अन्त में वही हुआ जिसकी उन्हें आशंका थी। रंगून किसे बुरा लगता था। मैकेन्जी साहब को प्रभावित कर कलकत्ते के गोरे साहब वहाँ जा पहुँचे। वहाँ की शाखा का काम अभी तक वही चला रहे हैं। केदार पहले की तरह अब भी दिल्ली की सड़कें नापते हैं।